समीक्षा

पुस्तक समीक्षा एवं शोध की श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका

अक्टूबर-दिसंबर, 2013

वर्ष : 46, अंक : 3

संपादक

सत्यकाम

प्रबंध संपादक

महेश भारद्वाज

प्रबंध कार्यालय

प्रबंध संपादक, समीक्षा

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग

दरियागंज, नई दिल्ली-110002

फोनः 011-23282733; टेलीफैक्स : 011-23270715

E-mail: samikshaquaterly@gmail.com
samayikprakashan@gmail.com

संपादकीय कार्यालय

संपादक समीक्षा

एच-2, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी,

नई दिल्ली-110068

फोन : 011-29533534

E-mail: satyakamji@gmail.com

समीक्षा

अक्टूबर-दिसंबर, 2013
वर्ष : 46, अंक : 3

प्रकाशन तिथि : 15 दिसंबर, 2013

संस्थापक संपादक : गोपाल राय
सहायक संपादक : अमिताभ राय
सहायक प्रबंध कार्यालय : हेमचन्द्र पन्त

सहयोग राशि
मूल्य ₹ 30 *(बिना डाक खर्च के)*

डाक द्वारा भेजी जाने वाली पत्रिका
मूल्य ₹ 50

व्यक्तिगत ग्राहकों के लिए
वार्षिक ₹ 200 त्रैवार्षिक ₹ 600 आजीवन ₹ 2000

संस्थाओं के लिए
वार्षिक ₹ 300 त्रैवार्षिक ₹ 900 आजीवन ₹ 3000

निवेदन

- कृपया सारे भुगतान मनीआर्डर अथवा बैंक ड्राफ्ट द्वारा 'समीक्षा' के नाम (देय दिल्ली-नई दिल्ली) से किए जाएं।
- मनीऑर्डर के कूपन पर प्रेषित धन राशि और प्रेषक का नाम-पता अवश्य लिखें।
- पत्रिका का कोई अंक न मिलने पर उसकी सूचना **प्रबंध कार्यालय** को शीघ्र दें।
- पत्रिका के मूल्य/बिल का भुगतान बैंक ड्राफ्ट द्वारा यथाशीघ्र करें।

'समीक्षा' में प्रकाशित रचनाओं के विचारों से संपादक की सहमति जरूरी नहीं।

- संपादक, सहायक संपादक अवैतनिक, अव्यावसायिक रूप से मात्र साहित्यिक-सांस्कृतिक कर्म में सहयोगी।
- समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय में विचारणीय।

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

- आवरण : निर्दोष त्यागी, कल्याणी कम्प्यूटर सर्विसेज, नई दिल्ली द्वारा लेजर कंपोजिंग एवं रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली द्वारा मुद्रित।

SAMIKSHA
A quaterly journal of Book Reviews & Research in Hindi
Published by Mahesh Kumar Bhardwaj, Managing Editor, Samiksha
3320-21, Jatwara, N.S. Marg, Daryaganj, New Delhi-110002
E-mail : samikshaquaterly@gmail.com

समीक्षा
पुस्तक समीक्षा एवं शोध
की श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका

अक्टूबर-दिसंबर, 2013
वर्ष : 46, अंक 3

अनुक्रम

श्रद्धांजलि	संपादकीय	*सत्यकाम*	5
साक्षात्कार	लेखन ही मेरी आत्मशक्ति है *(उर्मिला शिरीष से शैलेन्द्र कुमार शैली की बातचीत)*	*शैलेन्द्र कुमार शैली*	6
कहानी	ये कहानियां बाद में देर तक गूंजती रहती हैं *(कुर्की और अन्य कहानियां / उर्मिला शिरीष)*	*पंकज सुबीर*	10
उपन्यास	मुस्लिम महिलाओं के जीवन पर साहसिक विमर्श *(लेडीज क्लब / नमिता सिंह)*	*शरद सिंह*	13
उपन्यास	सावित्री आख्यान की अद्यतन प्रासंगिकता *(विजयिनी / मृदुला सिन्हा)*	*उषा महाजन*	15
उपन्यास	नारीवादी लोकतंत्र का नया पाठ *(वृंदा : गाथा सदी की / ब्रजेश)*	*नीतू शर्मा*	17
उपन्यास	जीवन के अंतर्साक्ष्यों का जीवंत बयान *(साथ चलते हुए... / जयश्री रॉय)*	*अरुण अभिषेक*	19
उपन्यास	अपराधबोध नहीं स्त्री का जीवन *(जीने के लिए / सरिता शर्मा)*	*तरसेम गुजराल*	21
कहानी	सामाजिक जीवन का यथार्थ *(बास्सा कल्लू गिर का चोग़ा / हरिपाल त्यागी)*	*अरविंद कुमार सिंह*	26
कहानी	संक्रमणशील यथार्थ और नयी-नयी जीवन-स्थितियां *(ब-बॉय... / कृष्ण बिहारी)*	*वेदप्रकाश अमिताभ*	28
कहानी	विमर्श का नया कोण *(एक सच यह भी / सं. मधु अरोड़ा)*	*जगदंबाप्रसाद दीक्षित*	30
कहानी	एक 'लिखावट' यह भी *(दस्तखत और अन्य कहानियां / ज्योति कुमारी)*	*चंद्रकला त्रिपाठी*	34

व्यंग्य	श्याम रंग की उज्ज्वल व्यंग्य-व्यंजनाएं *(ज्यों ज्यों बूड़ें श्याम रंग / प्रेम जनमेजय)*	*गौतम सान्याल*	36
संस्मरण	लेखकीय गरिमा के विनम्र आत्मकथ्य *(माफ करना यार / बलराम)*	*प्रमोद भार्गव*	38
सफरनामा	बला की खूबसूरती है सोफिया में... *(वितुशा की छांव में / सत्यकाम)*	*आनंदवर्धन*	40
सफरनामा	सांस्कृतिक टकरावों का स्मृत्याख्यान *(अलविदा अन्ना / सूर्यबाला)*	*त्रिभुवन राय*	42
पत्रकारिता	पत्रकारिता के विविध आयाम *(पहला संपादकीय / विजयदत्त श्रीधर)* *(समय के साथ / निशिकांत ठाकुर)*	*कृष्णचंद्र लाल*	44
आलोचना	तुलसीदास की कविता और कला का विवेचन *(तुलसीदास / नन्दकिशोर नवल)*	*रेवतीरमण*	46
आलोचना	प्रतिरोध और प्रतिरक्षा का घोषणापत्र *(साहित्यिक पत्रकारिता का साधु संग्राम / शिवनारायण)*	*कान्तिकुमार जैन*	48
आलोचना	कहानी के लोकतंत्र में आलोचक की नागरिकता *(कहानी का लोकतंत्र / पल्लव)*	*रत्नेश विष्वक्सेन*	50
मूल्यांकन	सशक्त स्त्रीवादी स्वर *(अनामिका : एक मूल्याकन / सं. अभिषेक कश्यप)*	*सुरेश पंडित*	52
कविता	साफबयानी के कायल शायरों पर एक नजर *(फ़ैज़ की सदी / सं. रवीन्द्र कालिया* *शहरयार सुनो / सं. गुलजार)*	*तरुण कुमार*	55
कविता	धूप के टुकड़े में छांह की शीतलता *(धूप के टुकड़े / रामदरश मिश्र)*	*श्रीकांत सिंह*	57
नाटक	प्रयोगधर्मिता रंगमंचीय चुनौती *(अंत का उजाला / कृष्ण बलदेव वैद* *महामाई / चंद्रशेखर कंबार)*	*लवकुमार लवलीन*	58
विविध	विविध रूपों में बनता समाज *(देवता बोलते नहीं / लता शर्मा* *संगतिन-यात्रा / संगतिन लेखक समूह* *अपनी धरती अपने लोग / मधु कांकरिया* *श्रेष्ठ सिख कथाएं / शरद सिंह)*	*जसबिन्दर कौर बिन्द्रा*	61

संपादकीय

❑ *सत्यकाम*

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

गीता के इस श्लोक के साथ मैं, सत्यकाम, अपनी ओर से और समीक्षा परिवार की ओर से उन सभी साहित्यकर्मियों, रचनाकारों, कलाकारों की दिवंगत आत्मा को प्रणाम करता हूं और श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं जो हमें छोड़ कर चले गए। निस्संदेह सशरीर वे हमें छोड़ कर चले गए पर उनकी रचनाएं, उनका काम, साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में उनके योगदान को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न जला सकती है, न जल गला सकती है, न वायु सुखा सकता है।

इधर एक के बाद एक अपनों का जाना हिला गया। अभी राजेंद्र यादव की चिता की अग्नि ठंडी नहीं हुई थी कि परमानंद जी चले बसे और जब परमानंद जी के जाने से लगी चोट को सहला रहे थे, तब तक विजयदान देथा के दिवंगत होने की खबर आई। इसके पहले रघुवंश जी के जाने का भी दुखद समाचार मिला।

आना-जाना तो एक सिलसिला है और पीढ़ियां इसी तरह बदलती रहती हैं पर राजेंद्र यादव पीढ़ियों से परे के लेखक, संयोजक और नेतृत्व प्रदान करने वाले शख्स थे। 'हंस' के जरिए उन्होंने जो साहित्यिक आंदोलन खड़ा किया और जिस प्रकार उन्होंने हाशिए की आवाज को मुख्य धारा में तब्दील कर दिया, उसे हिंदी साहित्य और भारतीय साहित्य युगों-युगों तक याद रखेगा।

समीक्षा के अक्टूबर-दिसंबर 2011 अंक यानी ठीक दो साल पहले हमने डॉ. रघुवंश का एक साक्षात्कार (दिनेश कुमार) और उन पर डॉ. राजेंद्र कुमार का एक संस्मरण लेख छापा था। उस समय हमें साक्षात्कार लेने में काफी कठिनाई हुई थी क्योंकि वे कुछ कहने-सुनने की हालत में नहीं थे। पर जो कुछ भी उनके मुख से निकला उसे दिनेश जी ने बड़े करीने से प्रस्तुत किया। संभवतः यह डॉ. रघुवंश का अंतिम साक्षात्कार था। अदम्य जिजीविषा के मालिक डॉ. रघुवंश ने अपनी सारी शारीरिक अक्षमताओं को नकार कर अपनी उपस्थिति दर्ज की।

परमानंद जी को आरंभ से ही देखता, सुनता, पढ़ता रहा हूं। उन्होंने हिंदी साहित्य का कोई कोना अपनी लेखनी से अछूता नहीं रहने दिया। वे हरेक विषय पर बड़ी संजीदगी और मौलिकतापूर्ण ढंग से अपने विचार रखा करते थे। हिंदी साहित्य जगत प्रो. परमानंद श्रीवास्तव के कामों को हमेशा याद रखेगा।

विजयदान देथा जैसे साहित्यकार विरल होते हैं। जब सारी जमात कुछ न कुछ हासिल करने के लिए दौड़ रही हो, उस दौर में गांव में बैठकर साहित्य सृजन करना और लोक साहित्य को विश्व साहित्य के स्तर पर उठाने का काम कोई ऋषिवत् मनुष्य ही कर सकता है। न केवल राजस्थानी और हिंदी साहित्य अपितु पूरा भारतीय साहित्य उनके इस देय के लिए ऋणी रहेगा।

बाल साहित्य को शिखर तक पहुंचाने वाले साहित्यकार श्री हरिकृष्ण देवसरे भी हमारे बीच नहीं रहे। उनका जन्म मध्य प्रदेश के नागोद में 09 मार्च, 1938 को हुआ था। वे पराग के संपादक भी थे। संयोग ही कहा जाएगा कि वे जिंदगीभर बच्चों के लिए साहित्य सृजित करते रहे और उनका निधन भी बाल दिवस के दिन ही हुआ। अभी-अभी दुखद खबर आई है कि दलित साहित्य के अगुआ महत्त्वपूर्ण साहित्यकार श्री ओम प्रकाश वाल्मीकि भी हमें छोड़कर चले गए। उनकी आत्मकथा 'जूठन' न केवल हिंदी साहित्य बल्कि भारतीय साहित्य की एक अनूठी रचना है। वाल्मीकि जी का जन्म 30 जून 1950 को मुजफ्फरनगर के बरला गांव में हुआ था। रचना भाटिया का दुखद 'संदेश' मिला। भाषा वैज्ञानिक कैलाश चन्द्र भाटिया भी हमारे बीच नहीं रहे। समीक्षा परिवार की ओर से नमन और श्रद्धांजलि।

लगातार हमने इतने साहित्यकारों को इतने कम समय में खोया है कि सारा साहित्य संसार आहत है। परंतु जीवन का यही क्रम है और हम लगातार जिंदगी में करते क्या हैं, कुछ खोते हैं और कुछ पाते हैं। खोना हमेशा विषाद का विषय होता है।

अपने को संतोष देने के लिए गीता के श्लोक के साथ ही एक बार फिर दिवंगत आत्माओं को भावभीनी श्रद्धांजलि और सलाम।

जातस्य हि ध्रुवो म   त्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

बुजुर्गों का जाना जिंदगी में एक रिक्तता छोड़ जाता है पर इन लोगों ने जाते-जाते मशाल नई पीढ़ी को थमा दी है; इसे प्रज्वलित रखना अब नए कंधों की जिम्मेदारी है।

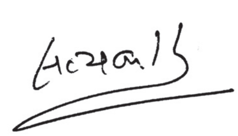

लेखन ही मेरी आत्मशक्ति है

उर्मिला शिरीष से शैलेन्द्र कुमार शैली की बातचीत

❑ *शैलेन्द्र कुमार शैली*

शैलेन्द्र कुमार शैली : पिछले तीन दशकों से आप लगातार पूरी निष्ठा के साथ लेखन में सक्रिय हैं तो जाहिर है लिखना आपके लिए मायने रखता होगा। फिर भी पूछना चाहूंगा कि आप क्यों लिखती हैं?

उर्मिला शिरीष : क्योंकि लिखना या लेखन मेरी आत्मशक्ति है, जरूरत है, मानसिक, वैचारिक, आत्मसंघर्ष और द्वंद्व से मुक्त होने का माध्यम है। किसी भी बात को लेकर उठने वाली सोच को, छटपटाहट को कोई न कोई माध्यम तो चाहिए। पानी का तेज बहाव जैसे इकट्ठे पत्तों को बहा देता है, उसी तरह मन और हृदय पर पड़े बोझ को लेखन बहा देता है। मेरे लिए आर्थिक पक्ष मायने इसलिए नहीं रखता है कि मैं स्वयं बहुत अच्छी नौकरी में हूं और हिंदी में लेखन से किसी की जीविका चलती भी नहीं है, लेकिन अपने से बाहर निकलने का, शेष मनुष्य समाज से जुड़ने का बोध, लेखन द्वारा ही होता है। लिखने की आवश्यकता भीतर से महसूस होती है, तभी लिख भी पाती हूं, और अन्ततः कि साहित्य मनुष्य जीवन का प्रतिबिम्ब ही तो है। मेरे लेखन में भी 'गैप' आए हैं, मगर मैं दोबारा लौटकर आई हूं, क्योंकि साहित्य लिखना-पढ़ना, उसी में जीना मेरा शौक भी है और लक्ष्य भी।

शैलेन्द्र कुमार शैली : एक विवेकशील रचनाकार का समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप किस तरह होना चाहिए?

उर्मिला शिरीष

उर्मिला शिरीष : समकालीन परिदृश्य के बीच खड़े हुए बिना रचनात्मक यात्रा कितनी आगे जाएगी, इस बारे में मेरी निश्चित धारणा है कि समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप तो होता ही है, होना ही चाहिए। अपने समकालीन में जिए बिना, जाने बिना लेखन कैसे सम्भव होगा। समकाल में जो कुछ घट भी रहा है, चल रहा है, उसको अनदेखा करके आप कितना लिखेंगे? मेरा मानना है कि समस्याओं का चेहरा हमेशा बदलता रहता है। दबाव और तनाव की स्थितियां बनती-बदलती रहती हैं, पर इसका प्रभाव तो सीधा-सीधा मनुष्य, प्रकृति पर पड़ता है। ये तमाम चीजें, बातें, प्रभाव, गहरे तक आंदोलित कर जाती हैं। इस समय जो भी हमारे समकालीन परिदृश्य में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, वैश्विक, धरातल चल रहा है, उससे उपजे सवाल, चुनौतियां, द्वंद्व और संघर्ष हम सबके भीतर प्रहार करते रहते हैं। छोटी-छोटी कोशिशें बड़ी कोशिश में बदलाव बल्कि एहसास करवाने की पृष्ठभूमि तैयार कर देती हैं। इसलिए दुनिया में जितने भी महान साहित्यकार हुए हैं, उन्होंने अपने समकालीन परिदृश्य को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है, न सिर्फ अभिव्यक्त किया है, बल्कि उससे मुठभेड़ भी की है। इसलिए युगों बाद भी उनकी रचनाएं हमें उनके समकालीन परिदृश्य में ले जाकर खड़ा कर देती हैं।

शैलेन्द्र कुमार शैली : आपके लिए प्रतिबद्धता का क्या अर्थ और महत्त्व है?

उर्मिला शिरीष : मेरे लिए प्रतिबद्धता का अर्थ है पूरी ईमानदारी के साथ खड़े रहना। अब सवाल उठता है कि किसके प्रति प्रतिबद्ध हैं, किसी दल के प्रति, किसी विचारधारा के प्रति या उस लक्ष्य, विचार और सोच के प्रति, जो आपको एक संवेदनशील मनुष्य बनाकर मनुष्य के प्रति ईमानदार बनाती है। सिद्धान्तों का बहुत खूबसूरत, प्रभावशाली और जादुई इस्तेमाल अपने भाषणों में करते रहें और व्यावहारिक स्तर पर उसमें विचलन हो तो, इसलिए जब भी मैं इस बारे में सोचती हूं तो मेरे भीतर से एक ही आवाज आती है कि मैं मनुष्यता के प्रति, मनुष्यता को बनाने वाले तमाम मूल्यों के प्रति स्वयं को समर्पित पाती हूं। मुझे लगता है कि अन्ततः सारे

सिद्धान्त, मूल्य, विचारधाराएं, मनुष्यता को बचाए रखने के लिए हैं। मैं कोई आलोचक या विचारक नहीं हूं, एक सीधी-सादी लकीर पर चलने वाली रचनाकार हूं। मुझे हमेशा लगता रहा है कि इस पृथ्वी पर जीवन से बढ़कर और क्या हो सकता है। यदि मनुष्यता के खिलाफ कोई बात जाती है तो वह मेरे लिए महत्त्वहीन है। मुझे पाखंड से नफरत है। वर्तमान समय में लोगों की कथनी और करनी में स्पष्ट विरोध दिखाई देता है। राष्ट्रीय स्तर पर कमोबेश सारी राजनीतिक पार्टियों और विचारधाराओं का यही चरित्र हो गया है। देश, मनुष्यता, नैतिकता, आस्था, त्याग, ईमानदारी की जगह तात्कालिक फायदों के समीकरणों ने ले रखी है।

शैलेन्द्र कुमार शैली : बात प्रतिबद्धता की उठी है तो मैं आपसे यह भी जानना चाहता हूं कि एक रचनाकार की राजनीतिक चेतना, विचारधारा और वैज्ञानिक समझ को आप किस तरह देखती हैं? आपकी कई कहानियों में ये बातें किसी न किसी रूप में आई हैं।

उर्मिला शिरीष : राजनीतिक चेतना हो या विचारधारा या वैज्ञानिक समझ, ये सभी आयाम किसी भी रचनाकार की दृष्टि को साफ, तर्कसंगत और गहरा बनाते हैं। तार्किक ढंग से आपको समय, चीजों और विषयों को देखने और समझने का विवेक देते हैं। आज के समय में एकांगी सोच-समझ लेकर हम मनुष्य जीवन के यथार्थ, यथार्थ की जटिलताओं, यहां तक कि बदलते हुए मनुष्य जीवन की प्रवृत्तियों को नहीं समझ सकते हैं। अपने आसपास के यथार्थ को समझने के लिए इन दृष्टियों या चेतना या समझ का होना आवश्यक है।

मैं कहूं कि मेरी राजनीति में रुचि है, लेकिन रुचि इतनी कि कहां क्या चल रहा है, कितना बड़ा झूठ, कितने पाखंड, कितने तरह के भ्रष्टाचार, कितनी तरह के घपले, कितनी हिंसा, कितनी अनैतिकता, कितना दोगलापन, कितना अविश्वास, क्योंकि वह सब हमारे जीवन पर असर डालता है। क्या इनकी तरफ से आंख मूंदकर कोई भी विचारशील पढ़ा-लिखा नागरिक खामोश बैठ सकता है?

मैं आस्तिक होने के बावजूद कई बातों को तर्क के आधार पर स्वीकार नहीं कर पाती हूं, खासकर धर्म के नाम पर होने वाले शोषण, व्यभिचार, ठगी, बेवकूफी, तथाकथित बाबाओं द्वारा किए जा रहे ढोंगों को मैं नहीं मान पाती हूं, वे अपने तंत्र-मंत्र, जादू-विद्या और न जाने क्या-क्या नहीं के द्वारा कितने तरह के 'अत्याचार', खासकर महिलाओं को लेकर करते आए हैं। दिल दहल जाता है, यह सब देखकर! इसलिए आपका यह कहना ठीक है कि वैज्ञानिक समझ की आज भी सबसे ज्यादा जरूरत है, तभी मनुष्य की सोच और दृष्टि में विस्तार होगा।

शैलेन्द्र कुमार शैली : समकालीन परिदृश्य में चुनौतियां ज्यादा दिखाई देती हैं, एक रचनाकार होने के नाते आपके समक्ष कौन-सी चुनौतियां हैं?

उर्मिला शिरीष : समकालीन परिदृश्य में एक नहीं, सैकड़ों चुनौतियां हैं। हर रचनाकार के समय उसका अपना समय और समाज सबसे बड़ी चुनौती बनकर खड़ा होता है। राजनीतिक, धार्मिक, मानवीय मूल्यों का निरंतर और बहुत बड़े स्तर पर गिरना और उससे जो परिणाम सामने आ रहे हैं, उन्हें कैसे रोका जाए! किसी तरह की मर्यादा, शर्म और संकोच की दीवार नहीं रही है। पिछले दिनों जो भयावह घटनाएं घटीं, खासकर बच्चियों को लेकर, क्या वो हमारी तमाम सोच को, मानसिकता को बदलने की, उस पर चिंतन करने की चुनौती नहीं देती हैं? एक कथाकार या शिक्षक या नागरिक होने के नाते मन हमेशा इन चुनौतियों से जूझता रहता है।

भारतीय समाज एक खतरनाक मोड़ पर खड़ा है, जहां हर चीज खुली है, सत्ताएं अपने स्वार्थ के समीकरण बनाते-बनाते आम आदमी की तकलीफों को दरकिनार कर देती हैं। स्त्रियों के लिए समानता, सुरक्षा, अधिकार, कानून की बात जितनी की जाती है, उसकी धज्जियां भी उतनी ही क्रूरता से उड़ाई जाती हैं। एक रचनाकार ही है, जो पूरी ईमानदारी से इन चुनौतियों को अपनाकर रचनाओं में ला रहा है। आज का लेखन हमको उस समाज में ले जा रहा है, जहां ये चुनौतियां खड़ी हैं। इन चुनौतियों को दिखाना ही सिर्फ मकसद नहीं होता, इनको महसूस करना, महसूस करके कुछ सोचना यानी सचेत होना या करना भी साहित्य से होकर आता है। रचनाकार को अपना वोट बैंक नहीं बनाना है, वह तो मनुष्य को मनुष्य विरोधी ताकतों से बचाना ही चुनौती मानता है और मुझे लगता है कि मेरी कहानियों में उसका कहीं धीमा और कहीं तीव्र स्वर आपको महसूस हुआ होगा।

शैलेन्द्र कुमार शैली : क्या आपने अपनी कहानियों के माध्यम से किसी का प्रतिरोध किया है या प्रतिरोध करना संभव होता है? चीख, आशिकअली, सच के आगे का सच, या अंगारों की हँसी या परदे के पीछे या दूसरी अन्य कहानियों में मुझे प्रतिरोधी स्वर सुनाई देते हैं।

उर्मिला शिरीष : देखिए, कोई भी कथाकार या कवि, हमेशा अपने समय से टकराकर, कुछ उसके बाहर निकलकर या बाहर निकलने की कोशिश में अपने प्रतिरोध को व्यक्त करता है। चूंकि वह सृजन करता है, इसलिए नारे लगाकर नहीं कहता कि मैं फलां-फलां चीजों का विरोध कर रहा हूं और बहुत बार हुआ भी कि जब कोई बड़ी घटना घटित हुई, साहित्यकार, संस्कृति-कर्मी सड़कों पर उतरे हैं, विरोध किया है, नारेबाजी भी की है या अपनी कलम द्वारा लम्बी बहसें चलाई हैं। बिना प्रतिरोध के भाव के हमारी कलम चल ही नहीं सकती।

जहां तक मैं अपने बारे में कह सकती हूं, मुझे बचपन में पढ़ने का शौक था, बहुत ज्यादा पढ़ने का, लेकिन मैंने महसूस किया कि मैं अपने आसपास के लोगों को लेकर परेशान हूं, कुछ बातें, घटनाएं मुझे सोने नहीं दे रही हैं। वह प्रतिरोध का भाव ही था कि ऐसा क्यों? क्यों ऐसा होता है? मेरे भीतर गहरी बेचैनी थी, गुस्सा था, सवाल थे। वह प्रतिरोध था सामाजिक स्तर पर, लोगों की सोच के स्तर पर, समाज के विधि-विधानों को लेकर, व्यवस्था को लेकर, किसानों और मजदूर महिलाओं को लेकर। जिन कहानियों का नाम आपने लिया है, उनको लिखने के पीछे मेरे भीतर वही सब सवाल, शंकाएं, क्षोभ और दर्द था कि बलात्कार करने वाला, शोषण करने वाला, ताकतवर क्यों हमेशा छूट ले लेता है और जो पीड़ित है, वह क्यों समाज में, अपने परिवार में बहिष्कृत है, त्याज्य है, दोषी है? हिंसा, आतंक या साम्प्रदायिक दंगों के शिकार लोगों को किसकी सोच का खामियाजा भुगतना पड़ता है? हालांकि ऐसा कहा जाता है कि साहित्यिक प्रतिरोध का कोई असर नहीं होता है, लेकिन मेरा मानना है कि सीधे-सीधे असर भले ही न पड़ता हो, यदि वह सामने वाले के हृदय में उसी तरह के एहसास करवा देता है तो वह भी कम छोटी बात नहीं होती है।

मेरी जहां तक समझ है, मैंने तो यही महसूस किया है कि भारतीय साहित्य हो या विदेशी, जो साहित्य हमारे भीतर आज जिन्दा है, अपने समय से प्रतिरोध करता साहित्य ही कालजयी हुआ है, यानी एक बड़े समाज को उसने आंदोलित किया है। समकालीन साहित्य में प्रतिरोध के स्वर कहीं तीखे तो कहीं धीमे सुनाई देते हैं। हां, ये अलग बात है कि कोई साहित्यकार किसी बड़ी ताकत के सामने प्रेमचंद की तरह (प्रेमचंद की गाय एक अंग्रेज के बगीचे में घुस जाती है और वह अंग्रेज प्रेमचंद की गाय के सामने बंदूक तान देता है, तब प्रेमचंद गुस्से में आकर अंग्रेज जिलाधीश की बंदूक के बीच खड़े होकर बोलते हैं) बोल सकता है, कि 'तो फिर चला गोली, देखूं तुझमें कितनी हिम्मत है, ले पहले मुझे गोली मार।' इतना अपूर्व साहस पाने के लिए हमारे भीतर ईमानदारी और साहस होना बहुत जरूरी है। इन दोनों के बिना जीवन और साहित्य दोनों में प्रतिरोध पैदा नहीं हो सकता।

शैलेन्द्र कुमार शैली : आपके ताजा संग्रह 'कुर्की और अन्य कहानियां' की कहानियों में एक नया रचनात्मक धरातल दिखाई देता है। आपने किसानों को लेकर दो महत्त्वपूर्ण कहानियां लिखी हैं और 'एम.एल.सी.' तथा 'अभिशाप' जैसी कहानियां भी, जो स्त्री-विमर्श (एम.एल.सी.) और धार्मिक पाखंड (अभिशाप) को उजागर करती हैं।

उर्मिला शिरीष : 'बिवाइयां और कुर्की' दोनों किसानों की भयावह, दिल दहला देने वाली घटनाओं पर आधारित हैं। बचपन से ही किसानों का जीवन देखा है। अपने खेतों, फसलों, पशुओं और चीजों के प्रति उनका परिश्रम, समर्पण और जिजीविषा देखी है। बाढ़, सूखा और शोषण की मार भी करीब से देखी है। ऐसे में किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएं, वो भी कर्ज के कारण, मेरे लिए बहुत ही चिंता और दुख की बात थी। दोनों कहानियां इसी दुःख का परिणाम थीं। एम.एल.सी. कहानी स्त्री विमर्श का एक नया आयाम खोलती है। ऐसे पात्र हमारे आसपास भरे पड़े हैं, जो हमारी तमाम सारी सोच को बदल देते हैं, वे पात्र ठेठ गांव-देहात और पिछड़े तबकों में हैं। वे ज्यादा ईमानदार हैं। साहसी हैं, विरोध करते हैं, सहते हैं, इसी तरह 'अभिशाप' कहानी धर्म के नाम पर ऐसा धोखा है कि सारी आस्था चूर-चूर हो जाए। इसलिए मैं अपने समय में घट रही घटनाओं या उन पात्रों या उन स्थितियों से स्वयं को जुड़ा हुआ पाती हूं, जो इस तरह के अन्याय के खिलाफ खड़े होते हैं, विरोध जताते हैं। संघर्ष करते हैं।

शैलेन्द्र कुमार शैली : क्या आप रचनाकार के रूप में महसूस करती हैं कि लेखन के स्तर पर 'स्त्री-लेखन', 'पुरुष लेखन' का धरातल अलग होता है।

उर्मिला शिरीष : नहीं। मैंने कभी महसूस नहीं किया कि रचना के लिए स्त्री-पुरुष होना चाहिए। फिर प्रेमचंद, टॉलस्टाय, गोर्की, जैनेन्द्रकुमार या शरत्चंद्र या बहुत सारे नाम, इन्होंने इतने ज्यादा स्त्री-पात्रों की रचना कैसे की? कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल या अन्य स्त्री कथाकारों ने इतने पुरुष पात्रों की रचना कैसे की? अनुभूति, संवेदना, भावबोध निजी तौर पर रचनाकार किस तरह व्यक्त कर रहा है, यह उसकी लेखकीय क्षमता पर निर्भर करता है। यदि ऐसा होता तो मैं बुजुर्गो-किसानों या अपने से बड़े स्त्री पात्रों या पुरुष पात्रों की रचना कैसे कर पाती?

शैलेन्द्र कुमार शैली : आपके आदर्श और प्रेरणास्रोत कौन हैं? किसने आपको लेखन की तरफ मोड़ा?

उर्मिला शिरीष : लेखन की ताकत का अहसास मुझे 'हार की जीत' कहानी ने करवाया। 'हार की जीत' कहानी का एक वाक्य कि 'लोग गरीबों पर विश्वास करना बंद कर देंगे' ने मेरे मन, हृदय और आत्मा पर ऐसी छाप छोड़ी कि मैं साहित्य के असीमित प्रभाव को समझ गई। वो बीज मंत्र था मेरे लिए। विश्वास और ईमानदारी मेरे लिए सबसे ज्यादा मायने रखते हैं। लेखक के रूप में प्रेमचंद और चेखव मेरे आदर्श हैं। व्यक्तिगत स्तर पर मेरे माता-पिता मेरे लिए आदर्श हैं और प्रेरणास्रोत मेरे हिंदी के अध्यापक, जिन्होंने मेरे भीतर कहानी लेखन की भावना पैदा की थी।

शैलेन्द्र कुमार शैली : क्या किसी रचना को आप फिर से लिखना चाहेंगी।

उर्मिला शिरीष : किसी भी रचना को लेखक तभी समाप्त करता है, जब

रचना कह देती है, अब बहुत हुआ, पीछा छोड़ो। इसके आगे लिखने की सम्भावना नहीं है, लेकिन जब वही रचना पाठकों के बीच जाती है, प्रतिक्रिया आती है, तब उन बातों की तरफ संकेत मिलता है, जो लिखते समय रचनाकार के मन में नहीं उठती थीं। मैं 'चीख' कहानी को कई बार कई-कई आयामों में लिखना चाहूंगी। इसको आप मेरा 'मोह' कह सकते हैं या वह भावना, जो मुझे टोहती रहती है कि जब भी मैं सड़क पर हँसती-खेलती, अपनी मौज में खिलखिलाती या काम पर जाती लड़कियों को देखती हूं तो मुझे लगता है किसी को भी क्या हक है कि वह उनके साथ छेड़खानी करे, अश्लीलता करे, उनको अपने वहशीपन का शिकार बनाए। उनकी इच्छा के खिलाफ अपने गंदे और जुनूनी मनोभावों से आहत करे। लड़कियों का जीवन मेरे भीतर गहरे तक समाया हुआ है। मुझे ताज्जुब होता है, गुस्सा आता है कि समाज के विधाताओं ने तरह-तरह की प्रथाएं, बंधन, नैतिकताएं, सब कुछ उन्हीं के लिए क्यों बनाईं? कई बार तो लगता है कि हम किसी सभ्य समाज में नहीं, अंधेरे हिंसक समाज में रह रहे हैं।

शैलेन्द्र कुमार शैली : क्या आप किसी बात या घटना से बहुत ज्यादा विचलित हुईं?

उर्मिला शिरीष : क्यों नहीं! कई बार, बल्कि बार-बार। आए दिन होने वाली घटनाओं ने बेहद विचलित किया है। आप यकीन नहीं करेंगे कि आज यदि साहित्य, समाज और लेखन न होता तो मैं पागल हो गई होती या एक कोने में पड़ी होती। तमाम विपरीत परिस्थितियों और दुःखों से मुझे उबारा है तो इसी ताकत ने। बचपन में पहली बार तब विचलित हुई थी, जब मैंने अंधेरी रात्रि में डाकुओं द्वारा घरों को जलाते हुए और लोगों को पकड़ते हुए देखा था। फिर विचलित हुई, जब मैंने सुना कि मेरे पड़ोस की अत्यंत खूबसूरत महिला को विधवा होने के बाद दो भाइयों के बीच बेच दिया गया था। मैं बेहद विचलित हुई थी तब, जब तालिबानों ने एकाएक सारी लड़कियों और महिलाओं का बाहर निकलना बंद करवा दिया था और खुले मैदान में किसी एक महिला की गर्दन पर बंदूक चला दी थी। दिल्ली की घटना ने रात भर सोने नहीं दिया। मैं विचलित हुई अपने पारिवारिक मित्रों की मृत्यु पर तब, जब अपने संघर्षशील, साहसी और जुझारू उद्योगपति पिता के आत्महत्या करने पर भयावह सन्नाटा मेरे भीतर ठहरा हुआ है। मुझे लगता है उन सबकी मृत्यु पर मैं भी थोड़ा-थोड़ा मरती गई हूं। मैं इन सब पर एक शब्द तक न लिख सकने की मनःस्थिति में हूं।

शैलेन्द्र कुमार शैली : क्या कुछ ऐसा है, जो चाहकर भी अभी तक सम्भव न हुआ?

उर्मिला शिरीष : बहुत कुछ...उम्मीद है कि भविष्य में वह सब कर पाऊंगी। उम्मीद और सपने न होंगे तो आगे की यात्रा करने का हौसला भी न रहेगा। मैं संघर्ष करके सपने पूरा करने में विश्वास करती हूं।

शैलेन्द्र कुमार शैली : अग्रजों की कौन-सी रचना पसन्द है या प्रभावित करती है?

उर्मिला शिरीष : 'अन्ना कारेनिना' (लियो टॉलस्टाय) 'मृत्युंजय' (शिवाजी सावंत), चेखव और प्रेमचंद का पूरा साहित्य, निर्मल वर्मा का 'अंतिम अरण्य', गोविंद मिश्र का 'पांच आंगनों वाला घर', 'कृष्णा सोबती का 'डार से बिछुड़ी', चित्रा मुद्गल का 'आवां', मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम', मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा', ममता कालिया का 'दौड़', मन्नू भंडारी, संजीव और शिवमूर्ति की कहानियां। इन साहित्यकारों का लगभग सारा साहित्य ही पढ़ा है, इन सब रचनाकारों ने गहरी छाप छोड़ी है।

शैलेन्द्र कुमार शैली : आप अपने समकालीनों में किससे प्रभावित हैं?

उर्मिला शिरीष : उदय प्रकाश, प्रियंवदा, अनामिका, गीतांजलिश्री और अखिलेश।

शैलेन्द्र कुमार शैली : नयी पीढ़ी के कथाकारों की कौन-सी बात प्रभावित करती है।

उर्मिला शरीष : आत्मविश्वास और अपार संभावनाओं से भरी रचनात्मक क्षमताओं को पूरी तरह से व्यक्त करने का कौशल उसके पास है।

शैलेन्द्र कुमार शैली : उर्मिलाजी अभी हाल ही में प्रकाशित आपके कहानी संग्रह 'कुर्की और अन्य कहानियां' पर आपको 'कृष्णप्रताप कथा सम्मान' और 'शैलेश मटियानी स्मृति सम्मान' मिला है, आपको कैसा लग रहा है?

उर्मिला शिरीष : बहुत खुशी हुई। पुरस्कार से पुरस्कृत कृति चर्चा में आती है, ज्यादा पाठकों तक पहुंचती है।

वैसे भी शैलेश मटियानी मेरे प्रिय लेखक हैं। मैंने अपना कहानी-संग्रह 'निर्वासन' (2004 में प्रकाशित) उन्हें समर्पित किया था। उनकी स्मृति में समर्पित यह पुरस्कार सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित मेरे कहानी संग्रह 'कुर्की और अन्य कहानियां' को दिए जाने के समाचार मिले तो मुझे सचमुच बेहद खुशी हुई।

शैलेन्द्र कुमार शैली : भविष्य की क्या योजनाएं हैं?

उर्मिला शिरीष : कुछ कहानियां पूरी करनी हैं। एक किताब का संपादन और वो काम, जो वर्षों से अधूरा पड़ा है यानी उपन्यास हर हाल में पूरा करना है। बाकी काम होते जाते हैं, लेकिन हर बार उपन्यास पीछे रह जाता है तो फिलहाल तो उन्हीं कहानियों और उपन्यास को पूरा करने की योजना है।

22, एच.के. होम्स, बंजारी कोलार रोड, भोपाल-462042 (मध्यप्रदेश)

ये कहानियां बाद में देर तक गूंजती रहती हैं

❑ *पंकज सुबीर*

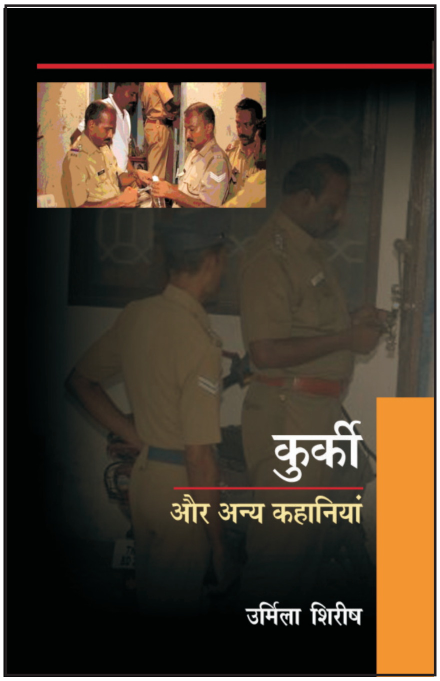

कुर्की और अन्य कहानियां, ले. उर्मिला शिरीष,
प्र. सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 144, ₹ 250.00

उर्मिला शिरीष का अपना एक कथा संसार है। उस कथा संसार में जीवन में घटने वाली उन छोटी-छोटी घटनाओं पर चर्चा होती है, जिनको अक्सर दरकिनार कर दिया जाता है। उर्मिला शिरीष अपनी कहानियों के विषय यूं ही चलते-फिरते तलाश लेती हैं। और जब वे विषय कहानी में ढलते हैं तो पाठकों को लगता है कि अरे ये तो हमारे ही बीच की बात है, उनकी कहानियों में शिल्प की कठिन गलियां, कथ्य की घुमावदार पगडंडियां नहीं होतीं। एक सहज और सरल सम्प्रेषणीयता होती है। इसीलिए ये कहानियां अपनी अलग पहचान बना लेती हैं। सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित उर्मिला शिरीष के नए कहानी संग्रह 'कुर्की और अन्य कहानियां' में उनकी कुल ग्यारह कहानियां हैं। ये सारी कहानियां अलग-अलग भावभूमि पर चलती हैं। यदि विषय को आधार बनाकर देखा जाए तो विषय वैविध्य के चलते कहानियां संग्रह को एकरसता की जड़ता में बंधने से रोक देती हैं। उर्मिला शिरीष अपनी कहानियों में बहुत आडंबर नहीं रचतीं, वे जस का तस पाठक को उसकी दुनिया का चित्र बता देती हैं। ये कौशल उर्मिला शिरीष को पाठकों के मानस से जुड़ जाने में सहायता प्रदान करता है। पाठक कहानी के साथ पूरा तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

कथा संग्रह की पहली कहानी 'एम.एल.सी.' दो अलग-अलग वैचारिक स्तरों की कहानी है। एक स्तर पर वो डॉक्टर खड़ा है, जिसे एम.एल.सी. करनी है तो दूसरे स्तर पर खेरून खड़ी है। अपने देवर को गिरफ्तार करवाने के लिए प्रतिबद्ध। बलात्कार का झूठा मुकदमा लगवाकर। इन सबके बीच में कहानी डॉक्टर तथा दारोगा के बीच झूलती रहती है। कहानी काफी बोल्ड विषय पर लिखी गई है। खेरून का पात्र तथा उसके संवाद भी उतने ही बोल्ड हैं। जैसे एक स्थान पर खेरून कहती है, ''जब मैं दो-तीन सौ रुपये के लिए बेची जाती हूं तो अपने पसंद के आदमी के साथ क्यों नहीं सो सकती, क्या मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं है। देवर को इस बात की आग लगी रहती है कि मैं अपनी पसंद के आदमी के साथ क्यों सोई।'' ये एक अलग प्रकार का विद्रोह है। स्त्री से उसका पति, उसका ससुर और उसका देवर तीनों धंधा करवाते हैं। धंधा करवाते हैं सफेद पुड़िया वाले नशे के लिए और इन सबके बीच जब उसका देवर उसके साथ मार-पीट करता है तो वो उसके खिलाफ बलात्कार का झूठा मुकदमा लिखवाने पहुंच जाती है। एम.एल.सी. करने वाले डॉक्टर को अपने झूठ की बात भी बता देती है और उसके सहयोग के बदले उसे कीमत देने का भी प्रस्ताव रख देती है। कहानी बहुत से सवालों को अपने में समेटे है।

सवाल, जो खेरून और डॉक्टर के संवादों के माध्यम से सामने आते हैं, सबसे अच्छी बात ये है कि कहानी अनुत्तरित नहीं समाप्त होती। खेरून का पात्र लेखिका ने अपनी ही शैली में गढ़ा है।

एक रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानी है 'बिवाइयां', जो कम से कम दो स्थानों पर पाठक को स्तब्ध कर देती है। किसानों और महाजनो पर जाने कितनी कहानियां लिखी जा चुकी हैं, किन्तु उसके बाद भी कहीं न कहीं, कुछ न कुछ लिखा जा सकता है, इसका प्रमाण है ये कहानी। ''किसान ने डबड़बाई आंखों से पत्नी की तरफ देखा। औरत ने पांवों में पड़े लच्छों को टटोला। लच्छे मोटे-मोटे थे। सुंदर थे। पूरे गांव की महिलाओं ने इन लच्छों की प्रशंसा की थी। तभी से वह ऊंची साड़ी पहनती थी, ताकि लच्छों की सुंदरता और चमक दिखाई दे।'' महाजन की दुकान पर बैठे किसान दंपती बीज-खाद के लिए पैसे लेने आए हैं, गहने गिरवी रखकर। गहने कम पड़ने पर औरत के पैरों के लच्छे का नंबर आ गया है। लेखिका ने उस किसान की पत्नी के दुख को इस प्रकार अपनी लेखनी के साथ एकाकार कर लिया है कि पाठक के सामने महाजन की दुकान पर पैरों के लच्छे उतारती महिला का दृश्य साकार हो जाता है। ''महिला साड़ी को खिसकाकर अपने नंगे पावों को ढांप रही थी।'' यह संग्रह की एक बेहतरीन कहानी है यह। किसान और उसकी पत्नी के बहाने लेखिका ने उस पूरी दुनिया की जिंदगी का कड़वा सच सामने लाकर रख दिया है।

'अभिशाप' कहानी एक और दूसरे सच की कहानी है। यह तो नहीं कह सकते कि ये कस्बाई या ग्रामीण इलाके में अंधविश्वास का धंधा करनेवालों की कहानी है, क्योंकि ये बीमारी तो महानगरों में भी फैल गई है, बल्कि इस प्रकार का इलाज करने वालों के यहां शहरी क्षेत्रों से आए लोगों की भीड़ ज्यादा लगी रहती है। चमत्कार से रोगों का इलाज करने वाले बाबाओं और माताओं की पड़ताल लेखिका ने कहानी में की है। हालांकि यह बहुत मजबूत कहानी नहीं बन पाई है तथा समाचार की शैली में होने के कारण सूचना प्रधान अधिक है। चमत्कार से इलाज करने वाली चमत्कारी मां पर आधारित कहानी और प्रभावी हो सकती थी।

राजधानी के सचिवालयों, मंत्रालयों तथा कार्यालयों में व्याप्त अंधेर पर कटाक्ष है कहानी 'लूप लाइन'। बिल्कुल नए तरीके से विषय को उठाया है। कहानी का 'वह' इस प्रकार से गढ़ा गया है कि पाठक को उससे घिन आने लगती हैं। लिजलिजा, सरिसृपों की तरह लूप लाइन में रेंगता बाहर निकलने का रास्ता तलाशता यह पात्र लेखिका ने पूरे मनोयोग से गढ़ा है। यह जो पात्र है, यह वर्मा है, स्वास्थ्य विभाग का बाबू, जो फिलहाल लूप लाइन में है। स्वास्थ्य विभाग में लूप लाइन का मतलब होता है पर्चेज विभाग से हटा दिया जाना। स्वास्थ्य विभाग का पर्चेज विभाग एक ऐसा अंधेरा कोना है, जहां किसी को कुछ दिखाई नहीं देता। दवा कंपनी, दलालों, बाबुओं और अधिकारियों की सांठ-गांठ से ऐसे खेल चलते हैं कि उसके आगे थ्री जी और दूसरे घोटाले भी शर्म से पानी-पानी हो जाएं। उसी अंधेरे कोने का एक प्राणी है वर्मा, जो छटपटा रहा है, फिर से उस कोने में जाने के लिए। लेखिका ने उसके चित्र को बहुत सुंदर तरीके से खींचा है। उसकी छटपटाहट को कुशलता से दर्शाया है। सांप्रदायिकता को लेकर बहुत सी कहानियां बहुत सारे तरीकों से लिखी गई हैं, मगर 'असमाप्त' एक और तरीका है उसको लिखने का। यह कहानी सांप्रदायिकता, बेमेल शादी, दहेज जैसी बहुत सी बातों को अपने में समेटे हुए चलती है। हमीद लंगड़े और प्रिंस की कहानी में रिजवाना का आना कहानी को एकदम यू टर्न देता है। रिजवाना, जो कि हमीद की पत्नी बनकर आई है तथा मानस पुत्र होने के नाते वह प्रिंस की अम्मी भी हैं, मगर दिलचस्प यह है कि हमीद उसके पिता की उम्र का है तथा हिन्दू लड़का प्रिंस उसका हमउम्र है। प्रिंस को हमीद ने पाला है। कहानी का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह है, जहां हमीद जानबूझकर प्रिंस और रिजवाना को घर में छोड़कर कई-कई दिनों की यात्रा पर चला जाता है। पीछे रह जाते हैं दो शरीर। शरीर जो बहुत दिनों तक तो रिश्तों की मर्यादा का पालन करते हैं, किन्तु फिर टूट जाते हैं और रिजवाना मां बन जाती है। कहानी के अंत में हमीद को आतंकवादी बना देना तथा दंगों में रिजवाना तथा उसके बेटे की मौत जैसी घटनाएं कहानी को एक सशक्त कहानी होने से रोक देती हैं। कहानी संबंधों के अंतर्द्वंद्व की कहानी थी, उसे वैसा ही रहना था। हमीद, रिजवाना, प्रिंस और उनके बेटे के बीच कहानी जब निर्णायक बिंदु पर पहुंचती है तो बिखर जाती है, मगर उससे पहले लेखिका ने कुशलता से घटनाओं का ताना-बाना बुना है।

'कुछ इस तरह' एक हल्की-फुल्की कहानी है। यह कहानी 'अंत भला सो सब भला' वाले पैटर्न पर लिखी गई है। अंत में हृदय परिवर्तन हो जाना, क्षमा मांग लेना और सब कुछ गुडी-गुडी हो जाना जैसे अंत महिलाओं की पत्रिकाओं में छपने वाली हल्की-फुल्की कहानियों में अच्छे लगते हैं। कहानी सामान्य है।

रियलिटी शो और उनमें बच्चों के

उपयोग की अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण समस्या को लेखिका ने बहुत अनूठे ढंग से 'हरजाना' में उठाया है। रियलिटी शो की क्रूर दुनिया को लेखिका ने उतने ही निर्मम तरीके से उजागर किया है, जहां सब कुछ केवल और केवल तालियां, आंसू, प्राप्त करने और उसके लिए किसी भी हद तक जाने के लिए होता है। दर्शक के आंसू को पैसा वसूल माना जाता है। "उनकी शारीरिक व्याधियां, उनकी भूख, उनकी प्यास सब खरीदी जा चुकी थी। भजनों और जयकारों के शोर में उनकी आहें-कराहें दब जाती थीं।" गायत्री के बिना रुके डांस तथा दो अन्य लड़कों का अजगर डांस और पेट्रोल मुंह में भरकर करतब दिखाने के रियलिटी शो आज हर जगह हैं। कहीं कोई मानव अधिकार इनकी चर्चा नहीं करता। कहीं कोई आगे नहीं आता कि बच्चों को बच्चा ही रहने दिया जाए। हर जगह टीआरपी का खेल है और टीआरपी के पीछे खड़े हैं विज्ञापन। लेखिका ने बहुत सशक्त कहानी इस विषय पर लिखी है। कहानी जो परत दर परत उस पूरे खेल को खोलती जाती है, पूरी बखिया उधेड़ती जाती है। कहानी को अपने ही तरीके से शिल्प में ढाला है उर्मिला शिरीष ने। अंत में तीनों बच्चे अपने अंजाम पर पहुंचते हैं। 'अजगर' के माध्यम से कहानी को बहुत कुशलता से समाप्त किया है लेखिका ने।

'चेहरे' कहानी शीर्षक से ही प्रतीत होता है कि यह मनोवैज्ञानिक कहानी है। और ये है भी, मगर ये मनोविज्ञान बहुत नजदीक का है, घर-परिवार के लोगों का। आपस में एक-दूसरे से गुंथे हुए रिश्तों के बीच का मनोविज्ञान। 'वह' का चरित्र कमाल का बन पड़ा है। धीरे-धीरे फुसफुसाता हुआ पात्र। जो कभी भी, कहीं भी, कुछ भी बहुत स्पष्ट नहीं बोलता, लेकिन उसके सारे काम होते रहते हैं। मीनाक्षी का पात्र कहानी में इतनी खामोशी के साथ आता-जाता है कि पाठक उसके आने और जाने का आनन्द लेते रहते हैं। हर बार कुछ नया। कहानी ठीक प्रकार से अपनी बात कह देती है और अंत में जब कहानी पलटती है तो मीनाक्षी की भूमिका भी बदलने के आसार दिखाई देने लगते हैं। और वहीं एक एब्स्ट्रेक्ट सा अंत। मनोवैज्ञानिक कहानियों में इस प्रकार का अंत करना कहानी की मांग होती है। कहानी वहां समाप्त हो, जहां पाठक को उम्मीद भी न हो, मगर कहानी का एब्स्ट्रेक्ट अंत बहुत ठीक प्रकार से हो जाता है।

'निगाहें' कहानी समाज के उस वर्ग की कहानी है जो दिन-रात भूख के सवाल को हल करने में जुटा है, लेकिन बार-बार असफल हो जाता है। उनके बीच में वो मध्यमवर्ग भी है जो कुछ पुण्य कमाने के चक्कर में या कभी कुछ आत्मिक संतोष जैसी चीजों के मोह में इस भूखे वर्ग पर दया कर देता है। तात्कालिक रूप से भूख का एक दिन का हल। उसके बाद क्या होगा, कुछ नहीं पता, मगर ये दया भी निरंतर नहीं हो सकती। ये केवल आज से उपजी है। इस कहानी में भी केंद्रीय पात्र उस गरीब बाप-बेटी पर दया तो करता है, लेकिन उसके बाद कुछ नहीं। ये इन्स्टेंट का युग है। आज का पुण्य आज कमा लिया, अब कल की कल सोचेंगे।

'सरगम' कहानी की तुलना 'हरजाना' से की जाएगी तो ये कहानी उसके सामने निश्चित रूप से कमजोर साबित होगी। कहानी में वही सब कुछ है, जो हम सब जानते हैं। रियलिटी शो की दुनिया, बच्चे और उनके पीछे ललचाए खड़े उनके मां-बाप। कहानी लगभग तय से फार्मेट पर चलती है, जिसमें पाठक को भी पता होता है कि अंत क्या होना है। इसे भी संग्रह की कमजोर कहानी माना जाएगा।

'कुर्की' संग्रह की अंतिम कहानी है। कहानी तयशुदा फार्मेट को तोड़कर एक नए अंत तक जाकर खत्म होती है, चेहरों के पीछे के चेहरों को उतारते हुए, उघारते हुए। कहानी अपने मुख्य पात्र के द्वंद्व को लेकर ही चलती है। ओला पड़ना, फसल नष्ट होना और उसके बाद प्रशासन के चक्कर काटना, ये सब बातें जहां तक चलती हैं, वहां तक कहानी कुछ सुनी हुई ध्वनियों पर ही चलती है, किन्तु उसके बाद कहानी वहां से एक मोड़ लेती है, जहां कुर्की होती है। एक नए एंगल से पूरे दृश्य को देखने की कोशिश की गई है वहां। कहानी अपने उद्देश्य में सफल होकर ठीक प्रकार से समाप्त होती है। किसान, कुर्की जैसे विषय पर नए तरीके से लिख देना लेखिका की सफलता है।

उर्मिला शिरीष की कहानियों को पढ़ना अपने आसपास को ही फिर से जानने की कोशिश होती है। वे जिस प्रकार से पात्रों को गढ़ती हैं, उसमें कहीं भी बनावटी शिल्प का एहसास नहीं होता। सब कुछ सहज होता है, अपना-सा। इसलिए ये कहानियां बाद में देर तक गूंजती रहती हैं। 'कुर्की' में भी लेखिका ने कई प्रयोग किए हैं। एक-दो कहानियों को छोड़ दिया जाए तो सारी कहानियां पठनीय हैं और संग्रह, संग्रहणीय बन पड़ा है।

पीसी लैब सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने सीहोर-466001 (मध्यप्रदेश)

मुस्लिम महिलाओं के जीवन पर साहसिक विमर्श

❑ *शरद सिंह*

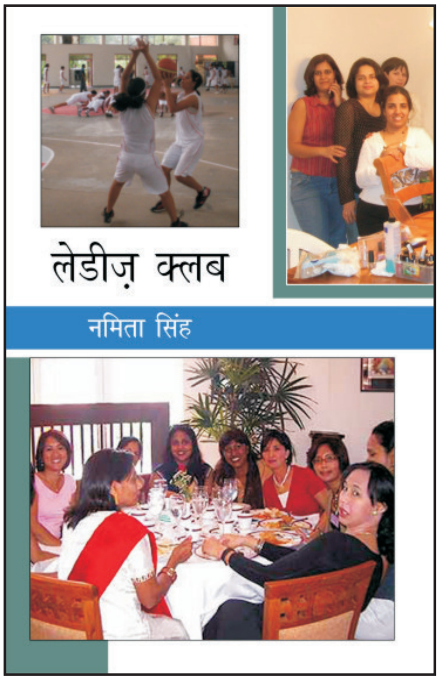

लेडीज़ क्लब, ले. नमिता सिंह, प्र. सामयिक बुक्स दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2012, पृ.सं. 224, ₹ 360.00

जब हम भारत की आधी आबादी की बात करते हैं तो इसका अर्थ होता है वे तमाम औरतें, जो भारत में रह रही हैं। वे चाहे किसी भी वर्ग, जाति, धर्म या समुदाय की हों। फिर भी हिंदी साहित्य में मुस्लिम समुदाय की स्त्रियों के जीवन को समग्रता से कम ही उकेरा गया है जबकि मुस्लिम समुदाय के सतत् विकास में उनकी स्त्रियों का अभिन्न योगदान रहता है। वे अन्य समुदाय की स्त्रियों की भांति अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति समर्पित रहती हैं। वे अपने बच्चों को पालती-पोसती हैं और उन्हें जीवन में संघर्ष करने के योग्य बनाती हैं, किंतु प्रायः उनका यह योगदान अनदेखा रह जाता है, क्योंकि वे स्वयं को सामने नहीं लातीं। उनके सामने न आ पाने का कारण एक तो उनकी परंपरागत झिझक है और दूसरी सकल समाज की भांति पुरुष वर्चस्व का दबाव। अपने जुझारू व्यक्तित्व के लिए सुविख्यात लेखिका नमिता सिंह ने अपने ताजा उपन्यास 'लेडीज़ क्लब' में इस तथ्य को बखूबी सामने रखा है। यूं तो मुस्लिम सामाजिक परिवेश पर पहले भी कई उपन्यास लिखे गए हैं और उनमें मुस्लिम औरतों की दशाओं का भी बखूबी चित्रण किया गया है, जैसे 'काला जल' उपन्यास में शानी ने मुसलमान परिवार में बहू पर चलने वाले व्यंग्य बाणों का उल्लेख किया है, जैसे—''अपने मां-बाप के यहां से दहेज में एक लौंडी ले आती है और रहती है रानी की तरह। घर-गिरस्ती में तो काम-धाम चलता ही, और कौन ऐसे धन्ना सेठ की बेटी हो कि घर में नौकर-चाकर से काम चलाती थी। हमसे क्या छिपा है, घर में उधर फाके मस्त रहते थे, यहां आकर चर्बी चढ़ रही है।'' लेकिन नमिता सिंह ने एक अलग ही दृष्टिकोण से मुस्लिम औरतों की दशा का आकलन किया है।

'लेडीज़ क्लब' के रूप में नमिता सिंह ने एक ऐसा केंद्र या 'सिंबल' चुना है, जहां विभिन्न समाज और विभिन्न धर्म की स्त्रियां परस्पर मिलती हैं, अपना-अपना मनोरंजन करने के साथ ही अपने-अपने दुख-सुख भी परस्पर बांटती हैं जिसमें उनका स्नेह और उनकी ईर्ष्या-द्वेष भी शामिल होते हैं। कुल मिलाकर कोई भी लेडीज़ क्लब वह केंद्र होता है, जहां वे औरतें भी स्वयं को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती हैं जो कहीं अन्यत्र अभिव्यक्त नहीं कर पाती हैं। ऐसे केंद्र बिंदु से ही 'लेडीज़ क्लब' उपन्यास के कथानक का आरंभ होता है और कथा के प्रवाह के साथ ही अनेक घटनाएं जुड़ती चली जाती हैं। इनमें से कई घटनाएं चौंकाती हैं, स्तब्ध करती हैं, और कई घटनाएं ऐसी हैं जो मन को दुख और सहानुभूति से भर देती हैं। लेखिका ने बड़े सहजभाव से वर्तमान सामाजिक परिदृश्य को पिरोया है, जिसमें करारा व्यंग्य मौजूद है।

'आंटी! जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता, चार पैसे घरवालों के हाथ में नहीं रखता, मैं निकम्मा ही कहलाऊंगा। दंगा-राजनीति मैं कर नहीं सकता। कब तक अपना कंधा अपने नेताओं की सवारी के लिए दूंगा। मैं अब कोई बिजनेस करने की सोच रहा हूं।' वहीं कसमसाता हुआ एक उत्तर भी उभरता है, 'अब आप राजनीति को छोड़ दें, राजनीति आपको छोड़े तब न।' (पृ. 166)

समाज में घटित होने वाली हर घटना या विचार का प्रभाव स्त्री-जीवन पर भी पड़ता है। यदि समाज विभिन्न खानों में बंटता है तो स्त्रियों से भी आशा की जाती है कि वे

उस बंटवारे के अनुरूप जिएं। एक समुदाय की स्त्रियां यदि उन्मुक्त और साधिकार जी रही हों तो यह जरूरी नहीं है कि दूसरे समुदाय का समाज अपनी स्त्रियों को वह स्वतंत्रता और अधिकार प्रदान करने के बारे में सहज हो। समाज के विभिन्न जाति एवं धर्म में बंटे होने के बारे में उपन्यास की नायिका क्षोभ व्यक्त करते हुए कहती है कि "मैं भूल गई थी कि हमारा हिन्दुस्तानी समाज जाति-दर-जाति सैंकड़ों खानों में ऐसा बंटा है कि इसकी जड़ें दूर-दूर तक फैल गई हैं। जमीन के नीच गहरे धंसी ये जड़ें उन बस्तियों और कुनबों तक जा पहुंची हैं, जहां इन विभाजक रेखाओं का अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए था। धर्म और जाति के ये विभाजन के दंश समाज की हर धड़कन में मौजूद हैं।"

शहनाज आपा, ग़ज़ाला, अजरा जैसी स्त्रियां सामाजिक बंधनों से जूझती दिखाई देती हैं। वहीं लेडीज़ क्लब भी सामाजिक दुष्प्रभावों से अछूता नहीं रहता है। शहर में साम्प्रदायिक कटुता बढ़ने पर क्लब की सदस्य लीला गुप्ता ने अपने घर बदलने को एक बहाने के रूप में प्रयोग करते हुए क्लब में शामिल होना ही छोड़ दिया। लीला के अनुसार जब वह कैंपस में थी तो आना सुगम था, किंतु अब घर दूर है, अतः क्लब में नहीं पहुंच पाती है। इस पर शहनाज आपा टोकती हैं कि "क्या पढ़ाने नहीं आतीं तुम? रोज डिपार्टमेंट तक आती हो। महीने में एक दिन गेस्टहाउस तक आना अब इतनी मुसीबत का काम हो गया?" (पृ. 33) लीला गुप्ता के क्लब में न पहुंचने और शहनाज़ आपा की पीड़ा के बहाने लेखिका ने उस अलगाव को रेखांकित किया है जो जाने-अनजाने आकार लेता चला जाता है। एक ऐसा अलगाव जिसके दुष्परिणाम सन् 1947 में झेले थे और उसके बाद समय-समय पर झेलते आए हैं। फिर भी उन पीड़ाओं से गोया कोई सबक नहीं ले पा रहे हैं। इक्कीसवीं सदी में भी समाज खेमों में बंटा हुआ है और प्रत्येक खेमा अपनी-अपनी कट्टर कुरीतियों, कट्टर विचारों से जकड़ा हुआ है।

एक युवा लड़की ग़ज़ाला अमेरिका में पढ़ी और बड़ी हुई। वह भारत के उस वातावरण में नहीं आना चाहती है, जहां रूढ़ियों के बंधन ही बंधन हैं। वह विरोध करती है, किंतु उसके पिता मौलाना अपनी पैंतरेबाज़ी से उसे भारत चलने को विवश कर देते हैं। भारत आकर ग़ज़ाला का मन हर पल छटपटाता रहता है और उसे अपनी मां के मौन पर आश्चर्य भी होता है। वह अपना जीवन अपने ढंग से जीना चाहती है। खुली हवा में सांस लेना चाहती है, बिना किसी विरोध अथवा पाबंदी के।

"कितना कठिन होता है अपने-आप से लड़ते हुए जीवन बिताना। औरतों की जिंदगी में मूक-बधिर की तरह हुकुम का पालन करना, रेवड़ के साथ चलते जाना क्यों होता है?" (पृ. 93) लेखिका इसी प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ती हुई जिस दिशा में जाती है, वहां सांप्रदायिक कट्टरता, परस्पर अविश्वास, हिंसा और वैमनस्य के ऐसे घिनौने रंग दिखाई देते हैं कि मन में टीस उठती है। क्या हमने अपने सामाजिक वातावरण को इतना बदरंग कर दिया है? दुर्भाग्य से यही सच है। देश में औरतों की प्रगति को मात्र चंद उदाहरणों से नहीं मापा जा सकता है, उनकी ओर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है जो घुटनभरे माहौल में जीने को विवश हैं। लेखिका ने इस तथ्य को भी उजागर किया है कि दकियानूसी सोच अपढ़ या आर्थिक रूप से निम्नवर्ग में ही नहीं, भद्र और पढ़े-लिखे वर्ग में भी कट्टरता से जमी हुई है।

जहां तक औरतों के कानूनी अधिकारों का प्रश्न है तो दुर्भाग्य से इस धर्म निरपेक्ष देश में किसी भी धर्म के निजी कानून औरतों को सुरक्षा नहीं देते। इसी तरह मुस्लिम निजी कानून 1939 ने मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम में मुस्लिम औरतों को तलाक का अधिकार तो दिया, पर मर्दों के एक तरफा तीन तलाक के हक पर अंकुश नहीं लगाया। 21 मार्च, 2010 को नई दिल्ली के जंतर-मंतर पर मुस्लिम महिलाओं ने प्रदर्शन किया था। इसका आयोजन भारतीय मुस्लिम महिला आंदोलन की दिल्ली इकाई की ओर से किया गया था। इस प्रदर्शन में कई मुस्लिम महिला बुद्धिजीवियों ने भाग लिया था। गीतकार जावेद अख़्तर ने इस मौके पर पहुंचकर महिलाओं की हौसलाअफ़जाई की थी। जावेद अख़्तर ने दो टूक शब्दों में कहा था, "दुनिया के बावन मुस्लिम मुल्कों में से पचास मुल्कों में तलाक-तलाक कहने पर तलाक नहीं हो जाता। यह भारत ही है जहां यह प्रथा जारी है, जिसे मौलवी-मुल्लाओं की सरपरस्ती हासिल है।" दरअसल कानून की व्याख्याएं तब तक कानून नहीं बनतीं, जब तक उसे संसद द्वारा अनुसमर्थित नहीं कर दिया जाता है। संसद में 1937, 1939 और 1986 के कानून को अनुमोदित किया गया, लेकिन वहीं दूसरा चरण आता है कानून को लागू किए जाने अथवा जिनके लिए कानून है, उनके द्वारा कानून का लाभ उठाने का। मुस्लिम महिलाओं के सामाजिक विकास के संदर्भ में यह एक बड़ी रुकावट है या वे कानून को ठीक से जान नहीं पाती हैं, या फिर उसका लाभ उठाने का साहस नहीं कर पाती हैं। 'लेडीज़ क्लब' में भी कई ऐसी सदस्याएं हैं, जो पढ़ी-लिखी होकर भी कानूनी अधिकारों को हासिल करने में झिझकती हैं।

स्त्री की दशा और समाज की जंग खाई बुनावट का बारीकी से विश्लेषण करने में सक्षम उपन्यासकार नमिता सिंह ने अपने इस नए उपन्यास 'लेडीज क्लब' के द्वारा देश और समाज के उस कोने को भी उजागर कर दिया है, जहां मुस्लिम समाज की महिलाएं पुरातन विचारों से उत्पन्न विसंगतियों को जीने के लिए विवश हैं, किंतु इस उपन्यास की यही खूबी है कि यह मुस्लिम स्त्रियों की दशा पर ही चिंतन नहीं करता वरन् उनके भविष्य की संभावनाओं पर भी गौर करता है। यह उपन्यास मात्र एक कथानक नहीं वरन् एक साहसिक विमर्श है मुस्लिम स्त्रियों के जीवन पर।

एम-111, शांतिविहार, रजाखेड़ी,
सागर-470004 (म.प्र.)

सावित्री आख्यान की अद्यतन प्रासंगिकता

❑ *उषा महाजन*

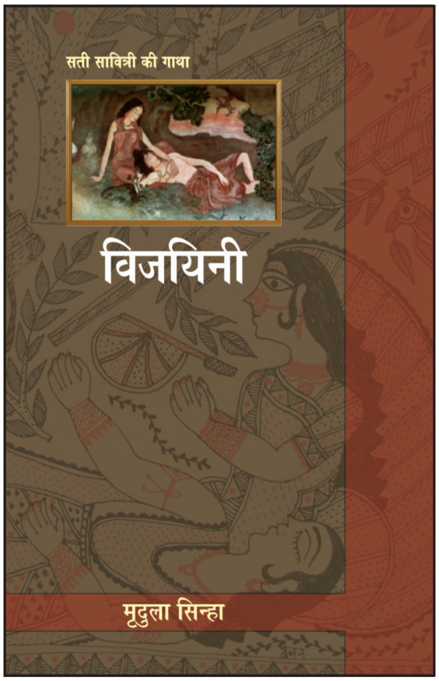

विजयिनी, ले. मृदुला सिन्हा
प्र. भारतीय पुस्तक परिषद्
175-सी, पॉकेट-ए, मयूर विहार,
फेज-2, दिल्ली-110091,
प्र.सं. 2013, पृ.सं. 176, ₹ 300.00

'विजयिनी' यानी 'सावित्री' मृदुला सिन्हा का नवीनतम उपन्यास है। 'ज्यों मेंहदी को रंग', 'घरवास' और 'अतिशय' जैसे उपन्यासों के बाद, मृदुलाजी ने पौराणिक विषयों से अपने उपन्यासों की कथावस्तु उठाने का जोखिम लेने की हिम्मत की। 'सीता पुनि बोली' के बाद, अब आया है उनका नया उपन्यास 'विजयिनी'।

बहरहाल, इन दोनों ही उपन्यासों को पढ़ते तनिक भी नहीं लगता कि वे हमें आदिकाल की रूढ़ियों में लिए जा रही हों।

अपनी स्वतंत्र अस्मिता का जैसा सबलीकरण मृदुला सिन्हा की सावित्री इस उपन्यास में करती है, वह क्या आज की आधुनिक स्त्री के बस की बात है?

सावित्री का यहां अपना ही एक अनोखा व्यक्तित्व है, एक स्वतंत्र अस्तित्व। सबको अपने कार्यकलापों और निर्णयों की पूर्वसूचना देने के लिए कोई उसे बाध्य नहीं कर सकता। गौतम ऋषि द्वारा अपने व्रतों-उपवासों को लेकर जिज्ञासा किए जाने पर, सावित्री जवाब देती है, ''मैं मानती हूं कि विवाह के उपरांत पति-पत्नी के एक हो जाने पर भी उनका स्वयं का भिन्न अस्तित्व रहता है। उनके अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्माएं होती हैं। पति-पत्नी एक निश्चित उद्देश्य के लिए जीवन-साथी बनते है, परंतु उनके शरीर, मन और बुद्धि की अपनी विशेषताएं तो होती ही हैं।''

सावित्री की कथावस्तु तो सभी जानते हैं कि सावित्री ने स्वयंवर द्वारा सत्यवान का वरण, यह जानते हुए भी किया था कि उसकी आयु मात्र एक वर्ष ही बाकी रह गई थी, लेकिन अपने जप-तप और तार्किक बुद्धि-बल पर वह यमराज से पांच वर और अपने पति के प्राण वापस लाने में सफल हुई।

इस पौराणिक गाथा की व्याख्या मृदुला सिन्हा ने अपने इस उपन्यास में जिस ढंग से की है, वह हमारे आज के समाज के लिए निश्चय ही दिग्दर्शक है, जब संबंध आपसी समझ और अदूरदर्शिता के कारण ताश के पत्तों की तरह, पलभर में ही बिखर रहे हैं, जो वैयक्तिक स्तर पर लोगों के लिए और आने वाली पीढ़ी के लिए भी कष्टों का पिटारा खोल रहे हैं।

आधुनिक सोच से तुलना करें तो सावित्री के पिता की सोच को देखिए, ''मैंने सोच लिया है। बेटी का विवाह तो करना ही है। योग्य वर भी चाहिए। मेरी बेटी स्वयं अपना वर ढूंढ़ लेगी। इसलिए मैं चाहता हूं कि मेरी बेटी स्वयं, हमारे बुजुर्ग मंत्रियों के साथ, रथ लेकर यात्रा पर निकले। नगर, तीर्थस्थान, वनप्रान्त सभी जगह जाए। जहां कहीं भी इसे अपने योग्य वर मिले, यह उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखे।''

स्वयंवर का प्रावधान तो उन दिनों था कि उपस्थित राजकुमारों में से राजकन्याएं अपना पसंदीदा वर चुन लें और उसके गले में जयमाला डाल दें, लेकिन कोई राजकुमारी देशाटन करती हुई नगर, ग्रामांचल अथवा वनप्रांत—कहीं से भी अपने उपयुक्त वर चुन ले,

ऐसी आजादी तो आज का अत्याधुनिक विचारों वाला परिवार भी अपनी बेटियों को नहीं देने वाला। इससे अधिक नारीवादी सोच की कल्पना भी क्या आज की स्त्री के बस की बात है?

और देखिए देशाटन के दौरान, सत्यवान से मिलने के पहले सावित्री अनेक दूसरे राजकुमारों से भी मिलती है। ऐसी ही एक मुलाकात के बाद, देर से वापस लौटने पर वह अपने मंत्रियों को बताती है, ''मैं राजकुमार के साथ बहुत दूर तक निकल गई थी।'' जो स्पष्ट करता है कि तब की स्त्री संभवत आज की स्त्री के मुकाबले मानसिक रूप से ज्यादा आजाद थी।

मृदुला सिन्हा के हर कहानी-उपन्यास में उनकी जमीन से जुड़ी सोच, उनके व्यावहारिक अनुभव, ग्रामांचल और प्रकृति की नैसर्गिक छटाओं से उनके जुड़ाव की प्रतिछवियां प्रतिबिंबित होती हैं।

स्वयंवर हेतु देशाटन पर निकली सावित्री का काफिला रात के लिए पड़ाव डालने वाला है। साथ गया एक मंत्री मंद स्वर में कहता है, ''आज की रात्रि हमें इसी राजधानी में बिताकर प्रातःकाल ही पुनर्प्रस्थान करना है। आगे पहाड़ी क्षेत्र आने वाला है। पहाड़ पर सिद्धार्थ राजा का बहुत सुंदर सिद्धार्थ नगर है। उस नगर की शोभा बढ़ाने में प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा योगदान है। पहाड़ को चार नदियों ने घेर रखा है। राजप्रासाद के बीच कई ठंडे-मीठे पानी के झरने, जलप्रपात हैं। गर्म-जल के स्रोते भी हैं, सारा क्षेत्र बड़े वृक्षों और घने वनों से पटा है...'' ऐसे प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन पुस्तक में अनेक जगह आते हैं और सुखकर अनुभव दे जाते हैं।

सरल, सहज भाषा और स्थितियों का व्यावहारिक वर्णन मृदुला सिन्हा के लेखन की विशेषता है। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में पिरोई सावित्री की यह चिरंतन कथा हमारी आज की पीढ़ी की सोच को कुछ तो प्रभावित कर ही सकती है, जबकि हम आज हर स्तर पर सामाजिक संबंधों के विघटन से जूझ रहे हैं और चिंतित हैं कि कैसे नए प्रतिमानों और पुराने संस्कारों के संतुलन से सहज जीवन जीने की परिपाटी तय करें।

अंत में संभवतः एक ही त्रुटि पाठकों को खटके कि 'विजयिनी' की यह गाथा सत्यवान-सावित्री के देहत्याग के साथ पूरी होती है।

बहरहाल पुस्तक की पठनीयता को यह किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करता कि अन्त कैसे हुआ हो, क्योंकि मूलकथा तो सर्वविदित है ही।

8146, बी-XI, नेल्सन मंडेला रोड, वसंतकुंज, नई दिल्ली-110070

साहित्य पर आज कॉर्पोरेट जगत की नजर लग चुकी है : विश्वनाथ त्रिपाठी

युवा कथाकार किरण सिंह सम्मानित

नयी दिल्ली। गांधी शांति प्रतिष्ठान के सभागार में आयोजित समारोह में लखनऊ से आयी कथाकार किरण सिंह को 'रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार' से सम्मानित करते हुए वरिष्ठ आलोचक और इस बार के निर्णायक विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा, ''साहित्य पर आज कॉर्पोरेट जगत की नजर लग चुकी है, इससे बचना होगा। कुछ शब्द हमने अपने संघर्ष और ईमानदारी से बनाए हैं, यह हमारे विकास का प्रमाण है।'' किरण सिंह की पुरस्कृत कहानी 'संझा' को उन्होंने नवीन मानवीय विमर्श की कहानी बताते हुए कहा कि ''हमारे समय मे आधुनिक मानवीयता के विस्तार ने कुछ रूढ़ विचारों, धारणाओं या पूर्वाग्रहों से संघर्ष करके उन्हें हाशिये पर धकेलने का प्रयास किया है। इसलिए हमारा समय 'शब्द परिवर्तन' का दौर भी है। अब हम व्यापक संवेदनशीलता के प्रभाव से कुछ शब्दों का प्रयोग नहीं करते, उनके स्थान पर नए शब्द चलन में लाते हैं। किरण सिंह ने इस नयी संस्कृति या संस्कृति विस्तार में 'संझा' जैसी कहानी लिखकर रचनाकार के रूप में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

कथाकार अल्पना मिश्र ने कहा, ''आज स्त्री हर तरफ से आक्रांत है। ऐसे समय मे किरण का पुरस्कृत होना एक बड़ी घटना है। उनकी कहानियां बाजार की रणनीति से अलग हैं। उनकी रचना में नए क्षेत्रों की ओर ले जाने की कोशिश है। इस विषय को जिन परिस्थितियों और संघर्षों में जिस दृष्टि के साथ देखा गया है, वह अद्भुत है। अच्छी बात यह है कि उनकी कहानियों के पात्र कभी हारते नहीं हैं। हारते-हारते भी वे अपने लिए नया रास्ता तलाश कर लेते हैं।

पुरस्कृत कथाकार किरण सिंह का कहना था कि मेरे लिए कहानी वह आग है जो जंगल की आग को बुझाने के लिए लगा दी जाती है। मैं अपने को और दूसरों को नष्ट करने वाला मानव बम नहीं बनना चाहती। मैंने अपने क्रोध को रचनात्मकता में तब्दील किया है। मेरी कहानियां सामंती सोच वाले समाज से, मेरा प्रतिशोध है। मेरा व्यक्तिगत मत है कि स्त्री या तो रक्षात्मक रहती है या आक्रामक, वह सहज मनुष्य नहीं हो सकती। मेरे लिए कहानी विकटतम परिस्थितियों में भी जिंदगी को जीने का लालच है।

पुरस्कृत रचनाकार किरण सिंह को शॉल उढ़ाया अल्पना मिश्र ने, स्मृतिचिन्ह प्रदान किया विश्वनाथ त्रिपाठी ने, पुरस्कार राशि प्रदान की विष्णुचंद्र शर्मा ने। इस अवसर पर पुरस्कृत लेखिका को रमाकांत की 'चर्चित कहानियां' भेंट की महेश भारद्वाज ने तथा 'बारहखड़ी' की प्रति भेंट की निर्दोष त्यागी ने।

नारीवादी लोकतंत्र का नया पाठ

❑ *नीतू शर्मा*

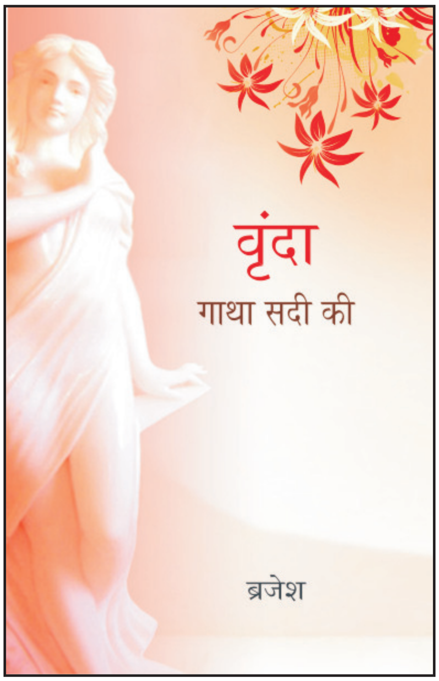

वृंदा : गाथा सदी की, ले. ब्रजेश, प्र. सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2011, पृ.सं. 560, ₹ 895.00

'वृंदा : गाथा सदी की' युवा कथाकार ब्रजेश का ऐसा उपन्यास है, जिसका कैनवास राजनीतिक होने के साथ-साथ नारीवादी भी है। यह उपन्यास ढेर सारे आंदोलनों की भविष्यवाणी करता हुआ आया। भारत और यूरोप के फलक पर बुना गया यह उपन्यास असाधारण रूप से रूमानी और राजनीतिक है। इसे रोमांस-सेक्स, कैंपस, राजनीति और प्रकृति का उत्तर आधुनिक दस्तावेज कहा जा सकता है। यदि इस पर फिल्म बनाई जाए तो वृंदा का शोख, सुंदर, ग्लैमरस और राजनीतिक किरदार निहायत चुनौतीपूर्ण होगा, लेकिन बनने वाली महामूवी सेक्सी कल्चर और वांछित सभ्यता के बीच नया अध्याय रचेगी।

''वृंदा के गालों में पड़े डिंपल में जैसे चांद रोशन हो रहे हों, कोई मादक स्मृति उनके तीखे मांसल यौवन से भाप की मानिंद उठती।'' (पृ. 484) ''उन्नत शृंग वाले स्तन पहाड़ियों की स्पर्धा में और उठ गए। हवा से अठखेली करते उसके केश चेहरे पर उड़ने लगे। एक अवश मुस्कान से गालों के डिंपल साफ-साफ झलके। थोड़ी देर तक वे एक-दूसरे को देखते रहे, फिर अचानक एक ही साथ उनके मुंह से निकला—'पियाजी, मैंने मसूरी तुम्हें गिफ्ट किया। रानी जी! मैंने मसूरी तुम्हें गिफ्ट किया।'' (पृ. 593)

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के प्रारंभ की सामाजिक चिंताओं में वर्तमान सर्वोपरि था, लेकिन कथाकार ब्रजेश की दृष्टि भविष्य की ओर भी है, जिसके अंतर्गत वैश्वीकरण की असंख्य प्रक्रियाओं का विस्फोट, सामाजिक, सांप्रदायिक-सौहार्द का बिखराव, दलित व स्त्री अस्मिता का उभार, अपसंस्कृति का प्लावन आदि प्रमुख घटनाओं को इस उपन्यास में रूपाकार दिया गया है। इस उपन्यास के नायक कांत दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक हैं और वृंदा उनकी छात्रा, जो डॉ. कांत की ही समवयस्क है। कैंपस की सारी चुहलबाजियों के बीच दोनों की प्रेम कहानी लगभग सौ पृष्ठों से अधिक में फैली है। उपन्यास की मूल कथा वृंदा और कांत के प्रेम, बिछोह और उनके भारत तथा यूरोप में राजनीति करने की कहानी के साथ-साथ पांच सौ साठ पृष्ठों का सफर तय करती है। कांत से बिछोह के बाद वृंदा बंगलौर में इजाडोरा डांस यूनिवर्सिटी और गांधियन यूनिवर्सिटी ऑफ पॉलिटिक्स स्थापित करती है। उसके व्यक्तित्व के कई रूप हैं। वह प्रोफेसर है, कुलपति है, नृत्यांगना है और राजनेता है। वृंदा पीड़ित और सताई गई महिलाओं की पक्षधर बनकर 'वूमेन डिगनिटी मार्च' लेकर चलती है। ''स्त्रियां हजारों वर्षों तक गुलाम रहीं, अब वे गाली और बलात्कार सहनेवाली नहीं, सरकार को हर हालत में कानून बनाना होगा। आप लोग देख चुके हैं। वृंदाजी अब तक ढाई हजार से ज्यादा गांवों को स्वर्ग बनाने के लिए गोद ले चुकी हैं।'' (पृ. 493)

वृंदा स्वयं दलित है, लेकिन उच्च मध्यवर्गीय दलित। वह जाति-तोड़ो नहीं, जाति मुक्त भारत का सपना साकार करना चाहती है। जाति तोड़ो आंदोलन इस गाथा के बहुतायत आंदोलनों में से एक है। वृंदा 'जाति-तोड़ो मार्च' लेकर चलती है।

21वीं सदी तक सभ्यता ने कितनी उपलब्धियां हासिल कीं, फिर भी ऑनर किलिंग चल रही है। इस गाथा में सवर्ण और दलित जातियों के बीच परस्पर प्रेम विवाह मीडिया

की मदद से एक बड़े आंदोलन की शक्ल लेता है—वृंदा की अगुवाई में।

पुणे के अल्ट्राटेक सिटी प्रसंग में हाइपर तकनीकी की निर्मम पैरोडी है। तकनीक की परजीवी सभ्यता का मजाक लेखक ने कई जगह उड़ाया है, जो पाठक के लिए निहायत दिलचस्प है। इस सिटी में स्त्रियां स्पेस स्थित संयंत्र से आनेवाले वाइटेलिटी पैकेट्स से ऐसी रेज कंसीव करती हैं, जिनसे उनके ओवुलेशन सिस्टम पर खास प्रभाव पड़ता है और वे लड़कियां ही पैदा करती हैं। उनमें अधिकाधिक लड़कियां पैदा करने की इच्छा जग गई है। इस सिटी में स्त्रियां अधिक हैं, पुरुष कम। पुरुष हर्बल कॉमड्रॉप से घोड़ों की ताकत पा जाते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रपतियों का कबड्डी प्रसंग, उल्लुओं का सेमिनार प्रसंग, गैलेक्सी-पार-गैलेक्सी बैंक प्रसंग, पूंजी और तकनीक पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करने वाली इस सदी का निर्मम मजाक उड़ाते हैं। यह उपन्यास यथार्थवाद से आगे चला गया है।

''सोलापुर में ऐसे अठारह सौ कपुल्स ने विवाह किया। मीडिया इन लोगों का खूब महोत्सव मनाता। यूपी, बिहार, एमपी, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान के ऐसे सवर्ण दलित कपुल्स खुलकर सामने आने लगे, जो प्यार करते थे, लेकिन भयवश शादी नहीं कर रहे थे। अब मीडिया साथ था तो डर काहे का। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से शादियां होने लगीं और लोग वृंदा, युवा विश्व और जाति तोड़ो मार्च की माला जपने लगे।'' इस मार्च के चलते सदी की गाथा का अंत लेखक इस रूप में करता है, ''दलित और सवर्ण के विवाह के चलते अब भी छिट-पुट बवाल हो रहे थे, घर टूट रहे थे, बस रहे थे। कामगार जातियां, जो सूरज की रोशनी में जल-जलकर अपने को काला बना ली थीं, अब जाति व्यवस्था को चरमराने से सवर्णों के यहां विवाह संबंध कायम होने से सोचने लगी थीं कि उनके गोरे होने की कितनी संभावना है।''

समाज परिवर्तन की तेज रफ्तार में भारतीय नारीवाद अपनी उम्र के सर्वाधिक संभावनाशील दौर से गुजर रहा है। वास्तव में भूमंडलीकरण और बाजारवादी वर्चस्व समाज के अन्य क्षेत्रों में तेज बदलाव लाने के साथ-साथ भारत के यौन-जीवन की स्थापित संरचनाओं को प्रभावित कर रहा है।

हॉस्टल में लड़कियों के बीच नॉनवेज अंत्याक्षरी प्रसंग, वार्डेन मिस सोफिया के यौन प्रसंग आदि महज लुत्फ के तौर पर नहीं बयान किए गए हैं। यह मौजूदा दौर से दो-दो चार होना हुआ। गरज यह कि कथ्य और भाषा की लजीज उपलब्धि रूमान और सेक्स से कहीं बंधी नहीं है। अधिक यांत्रिक होते जाते समय के तकनीकी तेवर को मुंह चिढ़ाता हुआ यह उपन्यास प्रेम और यौन संबंधों में संतुलित नारीवाद की तलाश करता है, जहां सुंदरता और देह की स्वतंत्रता स्त्री की अपनी अस्मिता से जुड़ी है। चेन्नई के कॉस्मेटिक्स मॉल प्रसंग में, जहां मॉल के इरोटिक आंकड़े में कालिदास और भर्तृहरि के यौन-भोगपरक श्लोकों की कार्विंग हो रही हैं, कथाकार कॉर्पोरेट वर्ल्ड का उपहास उड़ाता हुआ नजर आता है। इस उपन्यास में अनुभव के सांच का ताप महसूस किया जा सकता है तो भाषा का अद्‌भुत खेल भी किस्सागोई की अद्‌भुत युक्ति के रूप में सामने आता है।

इस उपन्यास में सत्याग्रह आंदोलनों के माध्यम से जनहित के तमाम मुद्‌दे उठाए गए हैं और सरकार को दबाव में लिया गया है। इत्तेफाक से अब तक देश में सत्याग्रह आंदोलनों की झड़ी लग गई है। पूरे कथानक में तीन मुद्‌दे उभरकर सामने आते हैं—1. कंज्यूमर सोसायटी अर्थात् अल्ट्राटेक समाज का अति भोगवाद, 2. स्त्री-पुरुष प्रेम और सेक्स 3. वैश्विक राजनीति का वर्तमान और भविष्य। इस लिहाज से इस गाथा को सौंदर्य, रूमान और राजनीति, तीनों दृष्टियों से नारीवादी लोकतंत्र का नया पाठ कहा जा सकता है। इसके बरक्स कथाकार ने समाज से जिन मूल्यों को, जिन पात्रों को अपने साहित्य में लिया है, वे वर्तमान में स्वयं को न्यायसंगत ठहराते दिखाई पड़ते हैं।

आंदोलन की झड़ी बिखेरता यह उपन्यास राजनीति का अद्‌भुत आख्यान है। प्रो. कांत, जो इस कथानक के नायक हैं, अमेरिका में 'सरकार बड़ी या उद्योगपति' का नारा देकर दुनिया के मदांध देशों को आंदोलन की गिरफ्त में ले लेते हैं। आज जब अमेरिका भयानक मंदी के दौर से गुजर रहा है और इंग्लैंड आर्थिक कारणों से ही दंगों का शिकार हुआ, इस गाथा का महत्त्व समझ में आता है, किस प्रकार कथाकार भविष्य की टोह लेता चला है। इस रूप में राजनीतिक यथार्थ के मूल चरित्र को समझने में यह उपन्यास काफी सफल है, क्योंकि इसमें युवा पीढ़ी में जबरदस्त राजनीतिक जज्बा भरने की पूरी क्षमता है।

उपन्यास का नायक कांत वैश्विक लोकतंत्र में स्त्रियों को नेतृत्व दिलाने का रास्ता प्रशस्त करता है। वृंदा के प्यार में पगा यह आख्यान वास्तव में युवा विश्व का ऐसा रचनात्मक दस्तावेज है, जिसमें स्त्री-पुरुष सृजनात्मक राजनीति के माध्यम से धरती पर सुख-शांति का राज्य कायम करना चाहते हैं।

यहां कथाकार बहुत सारी नई बातें कर रहा है, क्योंकि समाज बदल रहा है। पूरे का पूरा लोकतांत्रिक ढांचा, आज कहीं न कहीं टूट-फूट रहा है और ब्रजेश इस आख्यान में नव गांधीवादी आंदोलनों की चपेट में ले लेने वाले वृंदा और कांत के द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था, अहिंसक और एक समाजवादी लोकतांत्रिक विश्व का सपना देखते हैं, जहां युद्ध आतंक, घूसखोरी, शोषण न हो, जहां जाति, धर्म, लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव न हों। इस रूप में यह आख्यान लिबरल ह्यूमनिज्म को सामने रखता है।

यथार्थ के साथ कथाकार ने जो प्रयोग किए हैं, उससे निःसंदेह गाथा अत्यंत रोचक बन पड़ी है, लेकिन इसकी सीमाएं भी स्पष्ट हो गई हैं। संघर्ष की भूमि कमजोर है। सदी की गाथा कहते समय कथाकार को मुख्य पात्रों के अलावा निश्चित ही अन्य पात्रों पर पर्याप्त महत्त्व देना चाहिए था, जिसकी कमी पाठक को खलती है।

जीवन के अंतर्साक्ष्यों का जीवंत बयान

❑ *अरुण अभिषेक*

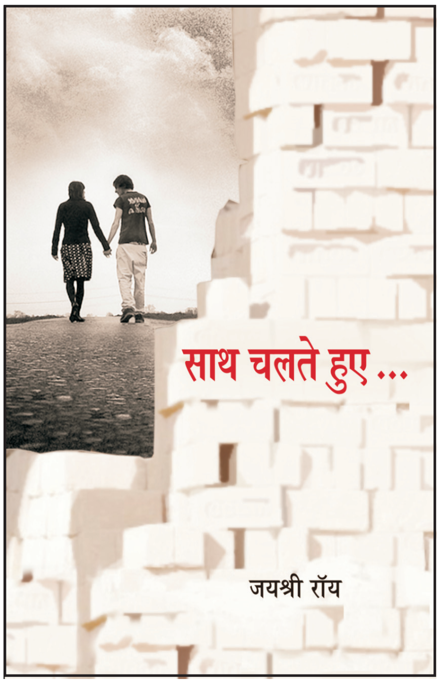

साथ चलते हुए..., ले. जयश्री रॉय,
प्र. सामयिक बुक्स
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 160, ₹ 250.00

लेखिका जयश्री रॉय अपनी रचनाशीलता के आयामों पर यकीन करती हुई व्यक्त करती हैं कि ''मेरे अनुभव का संसार कुछ ऐसा ही है—सुख-दुख की मलिन, चटक धूप-छांव से भरी हुई है। यहां जीवन का तीक्ष्ण दंश है, तो मुट्ठी भर दुलार भी। विडंबनाएं ऐसी कि जैसे कांटों की उद्दंड हथेलियों में फूलों की नर्म प्रार्थनाएं भर दी गई हों। मेरी कहानियों का विषय जीवन है, यही मेरी एक मात्र प्रेरणा है।'' यही वजह है कि अधिकांश कहानियों में लेखिका अपनी संलग्नता, आवेग और उत्तेजना के साथ जीवन-चेतना की पूरी रचनात्मकता की धार और राग से जुड़ी दिखाई देती हैं। इनके लेखन के पीछे इनका संपूर्ण हृदय और ढेर सारी मानवीय हित की संवेदनाएं मौजूद होती हैं।

नई शताब्दी में बिल्कुल ही नई जमीन का इनका नवीनतम उपन्यास 'साथ चलते हुए...' अपने कथानक की तन्मयता से, रिश्तों की मिठास से लेकर, बनते-जुड़ते, बिखरते रिश्तों की संवेदनशील और चेतना-संपन्न चरित्र की गहन जीवन-यात्रा है। साथ ही यह कृति उन मनोभावों की तलाश है, जहां मनुष्य को एक मनुष्य होने का सम्मान मिले और अपने अधिकारों के साथ, सुरक्षित जीवन जी सके।' उपन्यास का कथानक भारतीय प्रवासी दंपती अपर्णा लाहिड़ी और पति आशुतोष का है। आशुतोष इंजीनियर है। प्रतिष्ठित और संपन्न। अपर्णा गहने और सिंदूर से दिपदिपाती ढेरों सपनों के साथ पराई जमीन पर अपना घर बसाने आई थी, अपनी पूरी आस्था और यकीन के साथ। दोनों के जीवन में एक नन्ही परी काजोल आई। एक स्त्री के जीवन में मातृत्व का अहसास, जिसे वह भरपूर जी लेना चाहती थी, लेकिन नियति को कुछ और मंजूर था। आशुतोष, जो जीवन को कभी खत्म न होने वाले जश्न की तरह मनाता था, उसने अपर्णा से कहा था, ''अपना देशीपन छोड़ो, यहां की दुनिया अलग है। यहां के तौर-तरीके सीखो, वरना कभी एक्सेप्टेड नहीं हो पाओगी।'' (पृ. 95) शोहरत और ग्लैमर का उत्पादन करने वाले उस अमूर्त्त किस्म के जीवन में पुरुष का यह तानाशाही रवैया है या फिर एक वर्चस्व और पुरुषवादी अहं की आदिम चाहत है, कहानी का यह तनाव युगीन संकटों को व्यक्त करता है। इन रिश्तों के मध्य मानवीय संवेदनाएं लुप्त होती गईं, फलस्वरूप यहां तनाव और यातना संकटग्रस्त समय को व्यक्त करते हैं।

स्त्रियां अक्षम या दोयम नहीं हैं। चेतना के स्तर पर ये सदैव पुरुष के समान हैं। यह अवधारणा, पुरुषों के विपक्ष में क्रांति की उद्घोषणा है। निश्चय ही, यह सोच रूढ़ियों को चुनौती देती है और चेतना को जीवन के नए अध्याय से जोड़ती है। उपन्यास की नायिका अपर्णा इसी सोच के साथ उपस्थित है। वह पथरीले यथार्थ के मध्य अदम्य साहस और जिजीविषा की पहचान बनाती दिखती है। सर्वप्रथम, अपर्णा ममत्वपूर्ण स्त्री के व्यापक फलक को व्यक्त करती है। एक शाश्वत मां की प्राकृतिक संवेदनाएं, उसके कलेजे से निकलती और सांसों में बसती हैं। अपर्णा मां के व्यापक वजूद को जीती है और दूसरे

ही पल वह उसे चूके होने के त्रासद दुखों को भी क्षण-क्षण झेलती है। एक क्रूर सच यह है कि उसकी मासूम बेटी काजोल कैंसर की बीमारी से ग्रस्त थी, जो पल-पल मौत से जूझ रही थी। दूसरी ओर इन चिंताओं से दूर आशुतोष अपनी रूमानी दुनिया में मस्त था। यहां पुरुष की हृदयहीनता चुभती है और सवाल छोड़ जाती है। बावजूद इसके अपर्णा अपनी मासूम बच्ची, ''काजोल की स्मृति के बिना जी नहीं सकती और उससे परे हुए बिना भी जी नहीं सकती।'' (पृ. 90) उस मां के दिल में अपने हिस्से का स्त्री-मन भी तैरता रहता है। वह अपने प्रेम का आकाश पाना चाहती है। अपर्णा में स्त्रैण-गुण सूत्र की पूरी दुनिया है। वह पत्नी बनती है, मां और प्रेमिका भी, लेकिन उसके भीतर मां का जबरर्दस्त रोल या वजूद मौजूद है। मां के भीतर की यह संवेदनशील संरचना पाठकों को अन्तस तक छूती है। उपन्यास के इस दृश्य का पाठक आत्मावलोकन करें, जब काजोल की जिंदगी के लिए डूबकर प्रार्थना की जा रही थी। अपर्णा द्वारा अन्तस से निकली प्रार्थना के ये स्वर पाठकों को विचलित कर जाते हैं, ''उसे उसके गुड्डे-गुड़ियों की दुनिया में रहने दो भगवान! इतनी बड़ी दुनिया है तुम्हारी! बस, एक छोटा-सा कोना, थोड़ी-सी हवा और जिंदगी, प्लीज भगवान!'' (पृ. 23)। जिंदगी में प्रार्थना की अनिवार्यता, हमारी सांस्कृतिक सोच दर्शाती है। जीवन-दृष्टि की व्यापकता झलकती है, जब 'काजोल के लिए जीवन और आरोग्य मांगते हुए उसने अपने अनजाने ही सारे विश्व के लिए शांति और समृद्धि मांगना शुरू कर दिया था।' (पृ. 27)

एक ओर काजोल की मौत तो दूसरी ओर आशुतोष की जिंदगी में तापसी की पैठ से अपर्णा विक्षुब्ध हो गई थी। तापसी, जो उसकी सहेली थी। काजोल की बीमारी के दौरान कब वह अपना आशियाना आशुतोष के भीतर बना बैठी, अपर्णा को संज्ञान ही नहीं रहा। वह भीतर ही भीतर चीख उठती है, ''जिंदगी की सारी संवेदनाओं का मूल्य चुका दिया गया था। उसके समर्पण, प्रतिबद्धता का मूल्य! अंकों में समेट लिया गया था जीवन की गहनतम अनुभूतियों को।'' (पृ. 25)। टूटती अपर्णा स्वदेश लौट आती है, अपनी एक अंतरंग सहेली अर्चना के पास, जहां से उसकी जिंदगी का उत्तरार्द्ध शुरू होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में अपने छोटे-छोटे काव्यमय उप-शीर्षकों के माध्यम से अपने भीतर उप-कथाएं और उनसे जुड़े कई चरित्रों का विस्तृत मनोविज्ञान और उनकी प्रवृत्तियां सामने आती हैं। यहां कथा-दृष्टि, समय के अंतराल से नहीं, स्मृतियों की अपनी दुनिया से भी प्रतिध्वनित होती है, जिनकी संवेदनशीलता, जीवन और समाज से जोड़कर रेखांकित किया जाना जरूरी है। समकालीन यथार्थ अपनी पूर्ण विद्रूपता में प्रकट होता है और हमें बेचैन करता है। उपन्यास का यह विमर्श काफी मौजूं नजर आता है, ''लोकतंत्र सिर्फ संविधान में है, सरकारी बयान और राजनेताओं के भाषण में है, बाकी कहीं नहीं! वास्तविकता यह है कि यहां तो पूंजीपतियों का राज है! ये तल्ख सच्चाइयां मन को खिन्न करती हैं। नक्सलियों का जन्म और उत्पाद भी इन्हीं वजह से हुई। आदिवासियों ने नक्सलवादियों का साथ दिया, लेकिन उपन्यास की यह स्पष्ट-दृष्टि पाठकों को आश्वस्त करती है कि ये नक्सली पूंजीवादी देशों के हाथों की कठपुतली बने। अब ये संगठन अपनी नैतिकता और लक्ष्य से भटक चुके हैं। विदेशी पैसों की पट्टी इनकी आंखों में बंध गई।'' (पृ. 148) आखिर इसके जिम्मेदार कौन हैं? क्यों इनके पीले, भूखे-चेहरे, अवसन्न आंखें और इनके मौन-प्रश्न दब जाते हैं? जनता के प्रतिनिधि यानी तथाकथित राजनीतिज्ञों के छद्म चेहरे, पाठकों को क्षुब्ध कर जाते हैं।

उपन्यास का महत्त्वपूर्ण हृदय-प्रेम, जीवन मूल्य की तरह सहेजने वाली दृष्टि को भी व्यक्त करता है, जहां जीवन के समस्त अनुराग और प्रकृति के कोरों और प्रश्नानुकुलता के अनन्त छोरों को छूता हुआ कथानक सामने आता है। नायिका अपनी स्मृतियों पर बीनती, बटोरती, सहेजती, स्त्री-जीवन और उस जीवन को आलोक में देखने की संरचना करती है। दरअसल अपर्णा आशुतोष के अविश्वास, तापसी के विश्वासघात और बेटी काजोल को खोने से जो भीतर ही भीतर टूटती है, वह कौशल से आ जुड़ती है। एक अनाम संबंध मधु के छत्ते की तरह उनके अंदर चुपचाप आकार ले रहा था। अपर्णा का यह आत्म-संवाद मुग्ध करता है, ''बहुत अकेली थी मैं। अब जैसी भी हूं, कम से कम अकेली नहीं हूं।'' (पृ. 119) साथ ही एक अनाम इच्छा, जो अपर्णा अभिव्यक्त करती है, ''कौशल, क्या हम दोनों एक बार फिर अपनी-अपनी काजोल को अपनी जीवन में लौटाकर नहीं ला सकते?'' (पृ. 159)। कौशल भी अपने रिश्तों से चुका हुआ इन्सान है। अपनी शून्यता को वह भी भरना चाहता है। उसकी यह चाहत अनुगूंज बनती हुई, जीवन को सार्थकता से जोड़ती है, ''तुममें मुझे मेरा घर, मेरा परिवार दिखने लगा है अपर्णा और यह इश्क-मुहब्बत जैसी चीजों से कोई आगे की चीज है, बहुत गहरी और विस्तृत।'' (पृ. 159)।

अंततः यह उपन्यास स्मृतियों का जीवंत और मोहक कोलाज है। ये स्मृतियां जीवन-सौंदर्य को जीवन से जोड़कर अभिव्यक्त होती हैं। यहां जीवनानुभूतियां और जीवनराग, जीवन को आनन्द और संगीतमय-लय से रचनात्मकता का परिचय देते हैं। दूसरी ओर उपन्यास में, किरदारों के व्यक्तिगत और बाह्य-तनाव, युगीन संकटों को तो व्यक्त करते हैं, साथ ही रिश्तों के मध्य, मानवीय संवेदनाएं जिस तेजी से लुप्त हो रही हैं, उन मनःस्थितियों को भी उजागर करता है उपन्यास का कथानक।

विवेकानन्द कॉलोनी, पूर्णिया-854301 (बिहार)

अपराधबोध नहीं स्त्री का जीवन

❑ *तरसेम गुजराल*

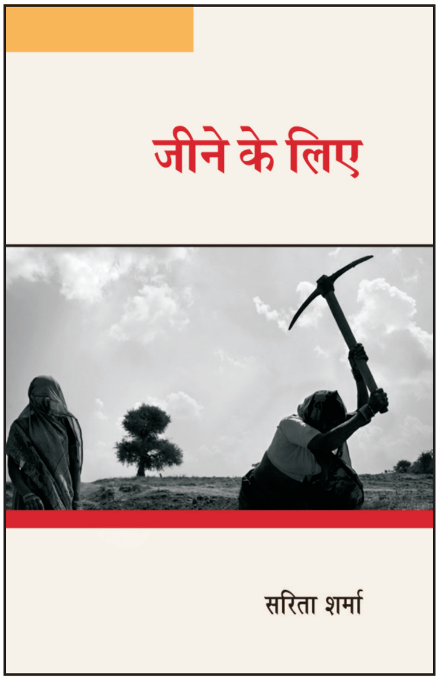

जीने के लिए, ले. सरिता शर्मा
प्र. सामयिक बुक्स
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 112, ₹ 200.00

'जीने के लिए' सरिता शर्मा का पहला उपन्यास है। आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास मात्र स्त्री जीवन की नहीं, जीने देने वाली स्थितियों से टकराव की गूंज-अनुगूंज सुनाता है। लैंगिक विभेद को पितृसत्तात्मक समाज की पहली विशेषता के रूप में देखा जाता है। इतिहास में दूर तक विभिन्न ऐतिहासिक कालों में स्त्री को पुरुष का वर्चस्व झेलते हुए देखा जा सकता है। स्त्रियों की नैतिकता, शुचिता और व्यवहार को लेकर उठे मानदंडों की मौजूदगी प्रत्येक अध्याय में उपलब्ध हो जाएगी। भूमिका के तौर पर सरिता शर्मा ने लिखा है कि किसी भी महिला के लिए विवाह बंधन से निकलकर सिर उठाकर जीना कठिन है। उदाहरण दिया कि किसी भी पुरुष को यह कहने में शर्मिंदगी महसूस नहीं होती 'आई एम सिंगल'। उसका अकेला होना कहीं उसे सहानुभूति देता है, कहीं बेचारेपन की भावना, लेकिन जब किसी महिला को किसी कारणवश एकाकी जीवन जीना पड़ता है, तो उसे आत्मग्लानि महसूस करने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। उसके प्रति रवैया संवेदनहीनता का होता है।

प्रभा खेतान ने कहा है कि ''पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है। हजारों साल से चली आई ऐसी अवस्था है, जिसमें स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रस्तुत किया, उसके नाम, रूप जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए।''

आमतौर पर स्त्री दासता को दलित दशा के साथ जोड़कर देखा जाता है परंतु प्रभा खेतान स्त्री दासता को ज्यादा सूक्ष्म रूप में देखती हैं। कहती हैं–स्त्री का यह अमानवीकरण दलित के अमानवीकरण से कहीं ज्यादा सूक्ष्म है, क्योंकि दलित पुरुष अपने दमन से परिचित है, मगर स्त्री चाहे वह किसी भी जाति या वर्ग की हो, अपने उत्पीड़न से परिचित ही नहीं है। उनका यह कथन 'जीने के लिए' उपन्यास की अंतर्निहित संरचना को समझने में सहायक है कि पुरुष ने स्त्री जीवन, उसकी कार्यशैली, उसकी सत्ता को निर्धारित करने की चेष्टा की, जबकि तथ्य तो यह है कि स्त्री भी पुरुष की तरह एक अलग संवर्ग है, उसकी अलग कोटि और अलग सामाजिक स्थिति है, वह अपने जीवन में चुनाव की क्षमता रखती है, मगर स्त्री को चुनाव का न क्षेत्र दिया गया, न अधिकार।

उपन्यास की नमिता के विवाह के बाद का जीवन सास-ससुर द्वारा डिजाइन किया जाता है। हालांकि उसका विवाह प्रेम विवाह ही है परंतु प्रेम की पींग झूलने का आनंद उसके विवाहोपरांत जीवन का हिस्सा नहीं बन पाता।

उसके ससुर का जीवन असफलताओं का एक पिटारा था। पत्रिका शुरू की, सालभर में बंद हो गई। प्रिंटिंग प्रेस बेचनी पड़ी। बहू के कमाए पैसों से किराने की दुकान खोली। घाटा खाकर बंद कर दी। इस सबने उसे परजीवी, लोभी और स्वार्थी बना दिया। विकास

(उसका पति) माता-पिता का दामन पकड़कर चलने वाला था (ममा'ज ब्याय)। मन में योजनाएं आतीं ऊपर उठने की, परंतु पिता के डर ने एक कदम भी न उठाने दिया। नकारात्मक विचार और लड़खड़ाहट तभी पैदा होती है। कभी बिजनेस शुरू करने की बात करता है, कभी वकालत की प्रैक्टिस करने की। उसके लिए यही कथन सत्य है कि मनुष्य जिन आदतों के वशीभूत होकर जीवन भर रोता रहता है, वे किसी दूसरे द्वारा निर्मित नहीं होतीं।

वह अपनी वास्तविक दशा किसी से नहीं कह सकती, क्योंकि विवाह का निर्णय उसका अपना था। देखने में यह एक साधारण मध्यवर्गीय ढांचा नजर आता है परंतु यह मात्र आइडेंटिटी क्राइसिस की कहानी नहीं है, न ही सिर्फ यह कि वह रचनात्मक स्तर पर आगे बढ़ने वाली लड़की है, जिसे स्तर बनाए रखने, उसे मेंटेन करने में दिक्कत आ रही हैं। असलियत यह है कि उसका दम घुट रहा है, संबंध अमानवीय हो चुके हैं।

कवि भगवत रावत कहा करते थे कि प्रतिबद्धता किसी रचनाकार के लिए दोहरी होती है। एक तो रचना के प्रति अर्थात् कहीं वो किसी अन्य दबाव में अपनी रचनात्मकता से समझौता तो नहीं कर रहा है, ज्यादा प्रसिद्धि और यश प्राप्त करने के लिए कहीं अपनी रचना का बेजा इस्तेमाल तो नहीं कर रहा है। रचनाकार अंततः क्यों लिख रहा है, किसके बारे में लिख रहा है और किसके लिए लिख रहा है, यह सब उसकी रचनात्मकता की प्रक्रिया में ही निहित होना चाहिए।

यह लड़की (जिसकी कहानी बताई जा रही है) कसूरवार है तो इसलिए कि वह व्यावहारिक नहीं हैं। आज की दुनिया में व्यावहारिक वही है, जो ईमानदार हो, न हो, चालाक हो, जो सच्चे मन से आपके साथ हो न हो, आपको अहसास करवाता रहे कि आपका हमदर्द वही है। उसके लिए आदर्श या मूल्य कोई अर्थ रखें, न रखें, उसकी राय जरूर अर्थ रखती है परन्तु यह लड़की, 'किताबों की दुनिया में खोए रहने और रोमांटिक धारणाएं पालने के कारण मैं यह नहीं जान पाई थी कि कोई किस उद्देश्य के लिए कार्य कर रहा है। जो भी अच्छी बात कर लेता, वही अच्छा लगता। दिखावे के पीछे की दुनिया से अनभिज्ञ थी। प्रेम ही जीवन की सबसे बड़ी जरूरत लगता था। 'जीने के लिए' (पृ. 35) वह बिल्कुल नहीं सोच सकती थी कि जो लोग (ससुरालवाले) पहले मीठी-मीठी बातें करते थे, वे वास्तव में बिल्कुल विपरीत स्वभाव के होंगे जबकि उसके अनुभवी पिता चेतावनी देते रहे कि सिर्फ बातों पर भरोसा मत करो, 'ये लोग चालाक हैं। तुम्हें बातों में फुसला लिया है?'

उसकी सहेली ममता को, जो कि लेक्चरर थी, ससुराल वालों द्वारा जला दिया गया और डाइंग स्टेटमेंट में उसने दर्ज किया कि स्टोव फटने से आग लगी थी। परिवार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। लाखों रुपये दहेज में कैसे देते? ममता ने ऐसा बयान मरते समय क्यों दिया? शायद उसे बचे रहने की उम्मीद हो कि बाद में भी तो ससुराल में ही रहना था। प्रश्न उठा कि समाज महिलाओं को इतना कमजोर क्यों बना देता है कि उनके पास वैवाहिक संबंध बिगड़ जाने के बाद सम्मानजनक जीने का विकल्प ही नहीं बचता है या तो वह चुपचाप अत्याचार सहन करती रहे और यदि तलाक ले ले या सहन करे तो माता-पिता के सम्मान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर ले। बुरी से बुरी स्थिति में भी माता-पिता उसे ससुराल में ही एडजस्ट करने के लिए कहते हैं। (पृ. 38)

पति शारीरिक और मानसिक तौर पर कमजोर। बात-बात पर चिल्लाता है। अजीब-अजीब हरकतें करता है। कभी अखबार से सुंदरियों की तस्वीरें काटकर दीवार पर चिपका देता है, कभी विदेश में जाकर बसने की बात करता है। नमिता बाथरूम में होती है तो जलता पटाखा अंदर फेंक देता है। कभी टूथपेस्ट में शैम्पू लगा देता है या घड़ी का समय आगे-पीछे कर देता है। सास-ससुर पहले ही कुटिल हैं। ऐसे माहौल में कितनी कील ठुक जाती हैं व्यक्तित्व में और कलह के कितने स्तर कक्षों के भीतर ही रह जाते हैं।

सरिता शर्मा ने उपन्यास के आरंभ में अर्नेस्ट हेमिंग्वे की चंद पंक्तियां दर्ज की हैं, ''अपनी निजी त्रासदी को भुलाओ, ऐसा सबके साथ होता है और तुम्हें गंभीरता से लिखने के लिए बुरे से बुरा भुक्तभोगी बनना ही होगा। इतना जरूर खयाल रहे कि जब तुम बुरी तरह आहत हो जाओ तो वह अनुभव किसी तरह जाया न हो। उसके प्रति एक वैज्ञानिक जैसी निष्ठा रखो।''

और उपन्यास के आरंभिक पृष्ठ पर लिखती हैं—नैतिकता-अनैतिकता, सही-गलत, कानूनी-गैरकानूनी, इन सबके बीच का फर्क कितना मामूली और निरर्थक होता है, यह जिंदगी के आपातकाल में ही ज्ञात होता है। जब हम दुख, संकट या मृत्यु के डर से गुजरते हैं तो क्या नैतिकता और क्या अनैतिकता। दरअसल बड़ी मुश्किल में फंसकर ही हम जिंदगी को नई रोशनी में देखना शुरू करते हैं। रोज जिए जा रहे जीवन का मतलब समझते हैं। (पृ. 7)

सरिता शर्मा ने डॉ. रैंडी पॉश की किताब 'द लास्ट लेक्चर' को भी समझा है। प्रो. रैंडी पॉश को कैंसर हो गया था। जब उन्हें यह पता चला कि दुनिया में वह कुछ दिनों के ही मेहमान हैं, उन्हें महसूस हुआ, 'जो हम नहीं पाना चाहते, दरअसल वही अनुभव है।'

प्रभा खेतान ने कहा है कि यह तो इतिहास में पहली बार घट रहा है कि स्त्री पितृसत्ता को नकार रही है, उस सत्ता द्वारा आरोपित भूमिकाओं के प्रति सवाल उठा रही है। वह वस्तु से व्यक्ति बनने की प्रक्रिया में है।

नमिता पति का घर छोड़कर वस्तु से व्यक्ति बनती है। उसके पिता उस निरपराध, आहत, अपमानित के लिए घर और हृदय के द्वार खोल देते हैं—

''वे लोग बहुत खतरनाक हैं। तुम्हारे लगातार वहां रहने से उनका स्वभाव नहीं सुधरा। अब तो तुम बगावत करके आ गई हो, अब तो वे और भी खतरनाक हो जाएंगे। वे बात करें तो भी जाने को तैयार मत होना। हम सब तुम्हारे साथ हैं।'' (पृ. 43)

बार-बार सिर दर्द और उल्टी होने से एक डॉक्टर ने अल्ट्रासाउंड कराने का मशवरा दिया। पता चला कि एक किडनी का आकार छोटा है और किडनी ठीक से काम नहीं कर रही। 'जीने के लिए' उपन्यास की पूर्व पीठिका के तौर पर सरिता शर्मा ने कहा, ''जब हम स्वयं कटु अनुभवों से गुजरते हैं तो पता चलता है, कुछ भी सही नहीं, न यह शरीर, न संसार। जीवन परिवर्तनशील है। अनेक नाटक और घटनाएं जीवन में घटित होते हैं, जिनके हम किसी न किसी रूप में पात्र होते हैं, परंतु सशक्तीकरण का सूत्र यह रहा—बनी-बनाई परिभाषाओं में स्वयं को बांधने के बजाय नई दृष्टि से आगे बढ़ने का प्रयास क्यों न किया जाए।''

नमिता गंभीर से गंभीर परिस्थितियों में बैठकर रोती नहीं रहती। अपनी हिम्मत बांधे रखती है और प्रत्येक बाधा पार करने की कोशिश करती रहती है। वह महानायिका नहीं है परंतु अपनी अस्मिता, अस्तित्व, स्वास्थ्य और अधिकार के लिए जूझती है। मनुष्य होने के नाते यह मानवाधिकार पाना उसका उद्देश्य बना रहता है। उसके भीतर गजब का आत्मविश्वास है, जो काफी हद तक एक लेखिका होने की समझ और संवेदना ने उसे प्रदान किया है।

बीमारी से छुटकारा पाने की प्रक्रिया में डायलिसिस जरूरी था। ''डायलिसिस के चार घंटे चार युगों जितने लंबे लगते। कई बार उस दौरान हालत बिगड़ जाती थी। दो या तीन दिन की दोबारा डायलिसिस कराने की अवधि तेजी से बीत जाती। जीवन घर से अस्पताल और अस्पताल से घर तक सिमट गया।'' (पृ. 69)

किडनी ट्रांसप्लांट उसके लिए जरूरी था। जब पतनशीलता आती है तो प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रभाव देखा जा सकता है। 'जीने के लिए' उपन्यास में स्पष्ट है कि स्वास्थ्य और साहित्य तथा कला के क्षेत्र भी गिरावट से बच नहीं पाए। यदि किडनी ट्रांसप्लांट के साथ किडनी रैकेट जुड़ा हुआ है तो प्रो. बॉस और मि. दीक्षित पीकर मस्त रहने वाले लोगों में शुमार हैं।

इस तरह सरिता शर्मा समाज की दोहरी नैतिकता का भंडाफोड़ भी करती हैं। नमिता सिंह ने सामंती व्यवस्था के साथ अधूरी मुठभेड़ को स्त्री स्वाधीनता में रुकावट के तौर पर अंकित किया। उन्होंने प्रश्न उठाया कि आज वैश्वीकरण के दौर में, जब परंपरागत पुरानी आर्थिक स्थितियों के विखंडन के साथ नयी परिस्थितियां निर्मित हो रही हैं, तब ये सामंती अवरोध इतने शक्तिशाली क्यों हो रहे हैं। दरअसल हमारे यहां नवजागरण की आधी-अधूरी प्रक्रिया की अवधि मुश्किल से डेढ़ सौ साल रही। पूरी उन्नीसवीं सदी और आधी बीसवीं सदी। इस दौर में न तो औद्योगिक रूप से पूरी तरह विकास हो पाया और न ही किसी दशा में सामंती व्यवस्था से मुठभेड़ की स्थितियां बनीं। आजादी के बाद का समय उसी मिले-जुले परिवेश में विकास की प्रक्रिया से पहचाना गया। इसलिए शिक्षा तो बढ़ी, लेकिन रुक-रुककर। स्त्री स्वाधीनता और सशक्तीकरण के स्वर तो उभरे, लेकिन मद्धिम और थम-थमकर (वर्तमान साहित्य जन. 2013)

किडनी के रोग को लेकर सरिता शर्मा ने गहरी विवशता दर्ज की है। 'धन होने के बावजूद हर मरीज ट्रांसप्लांट भी नहीं करा सकता', 'घर-बार गिरवी रखकर भी कुछ लोग डायलिसिस कराने आते थे। पाकिस्तान के डॉ. शेख ने भी मरीज से दस लाख रुपये मांगे थे।

उपन्यास में उपचार के लिए पाकिस्तान जाना और पाकिस्तान के लोगों का व्यवहार सुंदर ढंग से लिपिबद्ध हुआ है। राजनीति बेशक गंदे खेल खेलती रहे, अवाम की समझ और व्यवहार उससे अलग और मैत्रीपूर्ण है। यथा—

''लाहौर में चायवाले से लेकर राह चलते लोगों का भारतीयों के प्रति व्यवहार बहुत प्यार भरा है। सड़क पर ट्रैफिक इतनी तेजी से जाता था कि हमारे लिए पार करना मुश्किल होता। पुलिस वाला, ढोल वाला या राह चलता कोई भी व्यक्ति कहते ही साथ चलकर सड़क पार करवा दिया करता था।'' (पृ. 77)

''राजनीतिक हालात अक्सर दोनों देशों के बीच तनाव उत्पन्न करते रहते हैं। कभी संसद पर हमला, कभी मुंबई में, जिनके तार पाकिस्तान से जुड़े हुए होते हैं, मगर आम जनता न उसमें भागीदार है, न ही उनके लिए जिम्मेदार।'' (पृ. 33)

उपन्यास को सरिता शर्मा एक खुले अंत की तरफ लाती हैं, ''जिंदगी कितनी लंबी है, उससे ज्यादा यह मायने रखता है कि वह कैसी है।''

यह सरिता शर्मा का पहला उपन्यास है परंतु उसकी प्रवाहमयता और गंभीरता बांधे रखती है। कई स्थलों पर उनकी कलम काफी तेज भागती है।

महेश भारद्वाज ने सामयिक से आए दस किताबों के सेट में छह युवा लेखिकाओं की पुस्तकें दी हैं। यह बड़ा काम है। युवा लेखिकाओं के लिए अथक प्रोत्साहन कहा जा सकता है।

डब्ल्यू.एम. 26 बस्ती गुजां जालंधर-2 (पंजाब)

सामयिक प्रकाशन के नए प्रकाशन ... 2013

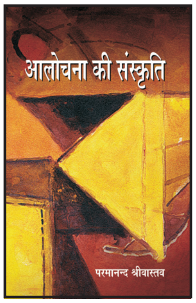

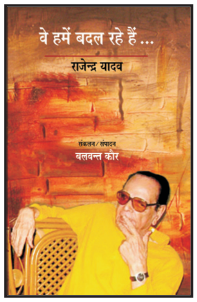

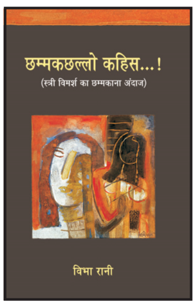

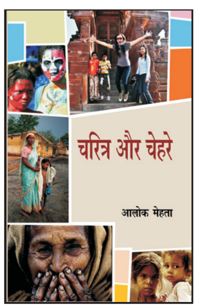

आलोचना

आलोचना की संस्कृति	परमानन्द श्रीवास्तव	₹ 395
कहानी का उत्तर समय : सृजन संदर्भ	पुष्पपाल सिंह	₹ 795
अनामिका : एक मूल्यांकन	सं. अभिषेक कश्यप	₹ 900

समाज विमर्श

वे हमें बदल रहे हैं...	राजेन्द्र यादव	₹ 495

स्त्री विमर्श

छम्मकछल्लो कहिस...!	विभा रानी	₹ 250

पत्रकारिता/मीडिया

चरित्र और चेहरे	आलोक मेहता	₹ 595
बनते बिगड़ते भारत का लेखा-जोखा	शशि शेखर	₹ 695
खबर बेखबर	प्रियदर्शन	₹ 360
पर्यटन प्रबंधन और मीडिया	मंजू पाण्डेय	₹ 495

विविध

हमारी भाषा...हिन्दी *(भाषा)*	मधु धवन	₹ 200
शिव पुराण की श्रेष्ठ कथाएं *(पौराणिक)*	हरि भारद्वाज	₹ 250
हिन्दी फिल्मों का संक्षिप्त इतिहास *(सिनेमा)*	दिलचस्प	₹ 300
अपना कंप्यूटर अपनी भाषा में *(शिक्षा)*	राजेश रंजन	₹ 300
21वीं सदी में भारत के सरोकार	सं. एच.के.दीवान/ वेददान सुधीर	₹ 695

E-mail: samayikprakashan@gmail.com • E-mail: samayikprakashan@rediffmail.com

विविध विषयों की ... नई पुस्तकों का प्रकाशन

आदिवासी विमर्श

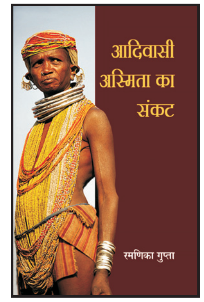

आदिवासी अस्मिता का संकट	रमणिका गुप्ता	₹ 250
आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना	रमणिका गुप्ता	₹ 250

व्यंग्य

सम्मान फिक्सिंग	गिरीश पंकज	₹ 300
परम श्रद्धेय मैं खुद	अनुज खरे	₹ 395

उपन्यास

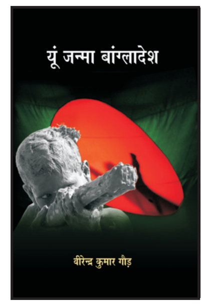

बर्लिन की दीवार के इस ओर	योज़फ़ बनाश	₹ 895
बर्फ़-आशना परिन्दे	तरन्नुम रियाज़	₹ 795
यूं जन्मा बांग्लादेश *(1971 के युद्ध पर आधारित)*	वीरेन्द्र कुमार गौड़	₹ 695
होने से न होने तक	सुमति सक्सेना लाल	₹ 495
हम यहां से राह खोजेंगे	नीलम सिंह	₹ 495
विजयिनी *(सती सावित्री की गाथा)*	मृदुला सिन्हा	₹ 300
विजय चौक लाइव	शिवेन्द्र कुमार सिंह	₹ 300
साथ चलते हुए...	जयश्री रॉय	₹ 250
...और मेघ बरसते रहे	रंजना जायसवाल	₹ 250
कोई फायदा नहीं	श्याम सखा 'श्याम'	₹ 200

कहानी

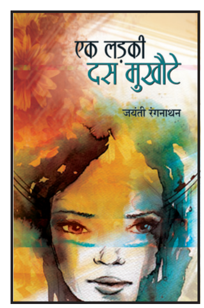

एक लड़की दस मुखौटे	जयंती रंगनाथन	₹ 200
एक टुकड़ा रोशनी	कीर्तिकुमार सिंह	₹ 200
क्यूटीपाई	सोनाली सिंह	₹ 250
आप बहुत...बहुत...सुंदर हैं!	कीर्तिकुमार सिंह	₹ 250
एक सच यह भी *(पुरुष विमर्श की कहानियां)*	सं. मधु अरोड़ा	₹ 395

विस्तृत सूची पत्र एवं क्रय आदेश के लिए लिखें:

सामयिक प्रकाशन

फोन : 011-23282733, टेलीफैक्स : 011-23270715

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

E-mail: samayikprakashan@gmail.com • E-mail: samayikprakashan@rediffmail.com

सामाजिक जीवन का यथार्थ

❑ *अरविंद कुमार सिंह*

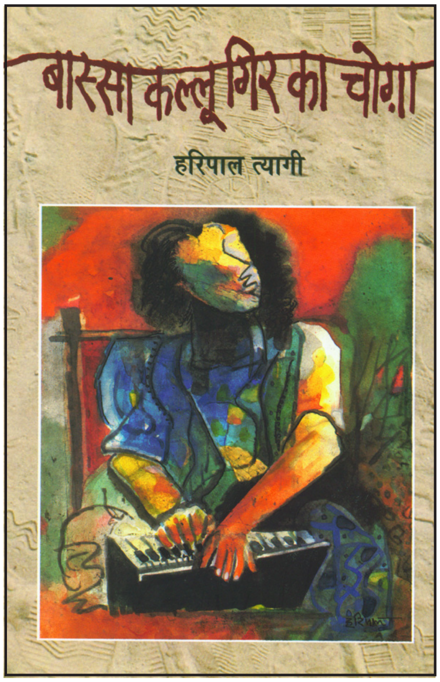

बास्सा कल्लू गिर का चोगा, ले. हरिपाल त्यागी,
प्र. आकृति प्रकाशन
एफ-29, सादतपुर दिल्ली-110094,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 152, ₹ 300.00

'बास्सा कल्लू गिर का चोगा' हरिपाल त्यागी की अधुनातन साहित्यिक पुस्तक है। 'महापुरुष', 'अधूरी इबारत' आदि चर्चित पुस्तकों के बाद कहानी-संग्रह के रूप में आई यह पुस्तक चित्रकार हरिपाल त्यागी की साहित्यिक उपलब्धियों में एक सर्वथा नया आयाम जोड़ती है।

असल में हरिपालजी के चित्रकार व्यक्तित्व की छाप उनके साहित्यिक रचना कर्म पर भी गहरी दिखाई पड़ती है। भाषा और शिल्प के स्तर पर सधे-सटीक शब्दानुशासन और गद्य की लयात्मकता उनके लेखन का विशेष गुण तो है ही, साथ ही मानवीय मूल्यों का समावेश और गुप्त चेतना को जगाने का आग्रह भी वहां देखा-महसूसा जा सकता है।

संग्रह की पहली कहानी 'दूरी' विषम आर्थिक स्थितियों से उत्पन्न मानसिक प्रभावों को प्रकट करती है, जिनके चलते नैसर्गिक प्रेम-संबंधों के बीच की दूरी बढ़ती रहती है। यह कहानी तरुण मन में अंकुरित प्रेम पर केंद्रित है। पढ़ने में होशियार और स्कूल की सांस्कृतिक गतिविधियों का हीरो, लेकिन उसके बाद? एक मामूली जीवन बिताने वाला लड़का भैसों का चरवाहा! जिस उच्चवर्गीय लड़की के सपने वह देखता है, उसी से आर्थिक विषमता के कारण खुद को तुच्छ और हीन मानते हुए दूरी भी महसूस करने लगता है। यही सामाजिक विषमता उससे बात तक करने में आड़े आती है।

'किरपाराम को नींद क्यों नहीं आती' का नायक किरपाराम कई अप्रत्याशित कारणों से देहरादून रेलवे स्टेशन के मुसाफिरखाने में रात गुजारने को विवश है।

इसमें मुंशीराम की सांग कंपनी की नायिका कमलाबाई से जुड़ा बालक किरपाराम, उसका रागात्मक अनुराग, कच्ची उम्र का भोलापन, कोमल मन के सहज-सरल तंतुओं को सामने लाता है। बचपन की कोमल भावनाओं का चित्रण इस कहानी में गजब का हुआ है। असल में जीवन के प्रति किरपाराम के मन में ऐसी उमंग है, जो उसे चैन से सोने नहीं देती।

'खुशी' आकार में छोटी कहानी है। खुशी के क्षण जीवन में हमेशा नहीं आते। खुशी के संदर्भ हमेशा एक जैसे नहीं होते। एक शिल्पकार की खुशी का एहसास इस कहानी को पढ़कर हो जाता है, लेकिन उन्हीं कारणों से कलाकार की पत्नी की खुशी गायब हो जाती है।

एक दिन कलाकार की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी उस काष्ठशिल्प को चीर-फाड़ कर अंगीठी पर जला देती है और इसी से उसे खुशी मिलती है। कहानी का अंत एक

क्षण के लिए मानो इंद्रियों को सुन्न कर देता है। मन की सूक्ष्म गुत्थियों, विसंगतियों और विरोधाभासों को सहजता से प्रकट करने वाली कहानी 'खुशी' अपने साथ गहरी विडंबना को लेकर आती है।

इसी तरह 'डाइनिंग टेबिल' मध्यवर्ग में बढ़ती इच्छाओं और दिखावे की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने वाली कहानी है, जिसमें अपनी जमीन और जमीर के साथ जी रहे एक मूर्तिकार को बेवजह पिसना पड़ता है। कहानी उच्च मध्यवर्गीय परिवारों के नकली जीवन-व्यवहार और बौद्धिक खोखलेपन को भी बयां करती है, जहां सामाजिक संबंध स्वार्थ की जमीन पर ही बनते-बिगड़ते हैं।

शहरी परिवेश में छुट्टी का दिन आराम करने, घरेलू साफ-सफाई और अपनी सुविधानुसार कार्यक्रम बनाने का दिन होता है। ऐसे समय अगर कोई अप्रिय पात्र बोर करने के लिए अचानक आ टपके तो बड़ी मुसीबत, सारा प्रोग्राम चौपट। 'छुट्टी का दिन' एक चरित्र प्रधान व्यंग्य कथा है। इस कहानी का प्रमुख पात्र सागर सिंह महानगरीय जीवन की व्यस्तता में अपने क्रिया-कलापों द्वारा सबकी हँसी का पात्र बनता है।

इसी प्रकार 'पराजित पीढ़ियों का दौर' का मूल स्वर व्यंग्यप्रधान है। इस कहानी का नायक कोई व्यक्ति विशेष न होकर बीती सदी का एक कालखंड है। व्यक्तियों के चेहरे और नाम वास्तविक और हिंदी समाज में जाने-पहचाने हैं। यह कहानी हर रचनाकार को खुद के साथ-साथ पूरे साहित्यिक माहौल पर मंथन करने का संदेश देती है। और अब 'बास्सा कल्लू गिर का चोगा' यह बहुत ही मार्मिक कहानी है। कहानी के नायक कल्लू गिर में स्वर और अभिनय का जादू है।

गांव में छोटी-बड़ी उम्र के सभी स्त्री-पुरुष कल्लू गिर की कला से प्रभावित तो हैं, फिर भी वहां उसे कोई सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं है। कला के जादू से जवान लड़कियां बहक भी सकती हैं, इसलिए बेकसूर होने पर भी कल्लू को शक की नजर से ही देखा जाता है, लेकिन जब वह हारमोनियम पर गाना शुरू कर देता है तो सभी लोग कला के जादू और उसकी शक्ति के कायल होते हैं।

होली के अवसर पर नंबरदार की शह पर गांव के लड़कों ने कल्लू गिर के बादशाही चोगे को, उसकी खूंटियां और हारमोनियम सहित होली की जलती हुई आग में झोंक दिया। उस वक्त भांग के नशे में कल्लू गिर को अपनी ही सुध-बुध न थी, लेकिन जब उसने अपनी कला-सामग्री को होली में जलते हुए देखा तो उसका दिल बैठ गया और रुलाई फूट पड़ी। वह अपना घर-बार छोड़कर दूसरे गांवों में जा बसने और भीख पर ही गुजर-बसर करने को मजबूर हुआ।

'पुराने घाव की कसक' दाम्पत्य जीवन में असफल एक प्रेमी-पति देवेन्द्र के दर्द पर आधारित है। सभ्यता के आवरण में लिपटे हिंस्र पशु का दर्द कहना अधिक ठीक होगा, हालांकि लेखक ने उसमें भी मानवीय गुण दर्शाए हैं। भौतिक जीवन की सभी सुख-सुविधाएं प्राप्त कर लेने पर भी देवेंद्र दुखी रहने को अभिशप्त है।

पुरुषप्रधान सामन्ती समाज में शादी से पहले स्त्री-पुरुष संबंधों में जिन वजहों से आकर्षण होता है, शादी के बाद वही वजहें दुराव, टकराव और शक का कारण बनती हैं। नई-पुरानी सोच के द्वंद्व में रिश्ते टूट जाते हैं। मजबूत और खुले विचारों की स्त्री द्वारा उसे उसकी औकात का आईना दिखाया जाना उसे बर्दाश्त नहीं होता और यही एक बात उसकी कसक बन जाती है, जो जीवन भर उसका पीछा नहीं छोड़ती।

इसके बाद 'सेंधमार' और 'घर के जोगी' दोनों कहानियों में गहरा व्यंग्य है। सेंधमार जहां बुद्धिजीवियों की अड्डेबाजी पर केंद्रित है, वहीं 'घर के जोगी' छोटे कस्बों में चलने वाली साहित्यिक उठा-पटक, आपसी तिकड़मों और पुरस्कारों की राजनीति को सामने लाती है, लेकिन अंत में वह लेखन से जुड़े लोगों को गलत राजनीति का शिकार होने और टूटने से बचाती भी है।

'सेंधमार' कहानी के कुछ पात्र अपने हुनर और अतीत के कारनामों की डींग मारते हुए वर्तमान समय के तकनीकी बदलावों में स्वयं को अनफिट महसूस करते हैं। उदारीकरण और आर्थिक सुधारवाद के नए दौर में चोर, लुटेरे, भ्रष्ट नेताओं, अफसरों और नए किस्म के शहजादों की एक और कतार खड़ी हो गई है, इससे बिलसुआ जैसे पुराने सेंधमार और अपने पात्रों के दिलों का जायजा लेने वाले लेखकों-कवियों को अप्रासंगिक और आउटडेटेड हो जाना पड़ा है, सेंधमार इसी पीड़ा की मार्मिक व्यंग्यकथा है।

सामाजिक यथार्थ का अन्वेषण करती हरिपाल त्यागी की कहानियों में मानवीय करुणा के साथ वैज्ञानिक चेतना भी है, जो हमें अच्छे-बुरे की पहचान कराती है और नया रास्ता खुद बनाने की प्रेरणा भी देती है।

सी-5/44ए सादतपुर, दिल्ली-110094

संक्रमणशील यथार्थ और नई-नई जीवन स्थितियां

❑ *वेदप्रकाश अमिताभ*

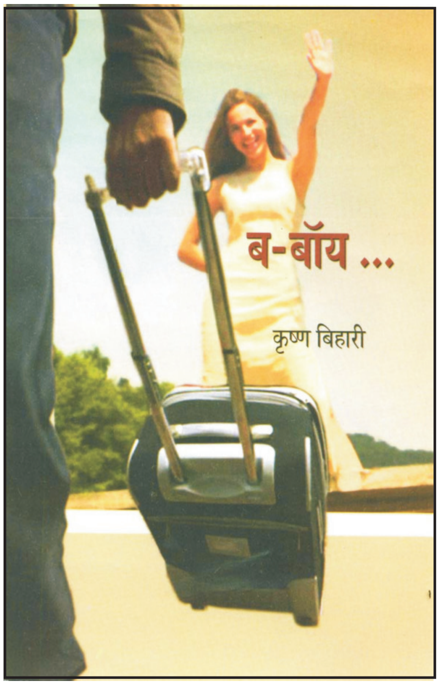

ब-बॉय..., ले. कृष्णबिहारी
प्र. सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 208, ₹ 300.00

कृष्णबिहारी के छठे कहानी संग्रह में उनकी आठ कहानियां संकलित हैं। 'अपनी ओर से कुछ' में दी गई यह 'सूचना' कि ये सभी कहानियां 'हंस' में छप चुकी हैं और बहुत अपनेपन से राजेंद्र यादव को इस कृति के 'समर्पण' से लगा कि या तो इस संग्रह में काम संबंधों का यथार्थ मुखर होगा या वर्ण-संघर्ष विशेषतः ब्राह्मणवाद से टकराती, मानसिकता केंद्र में होगी। इस संग्रह की 'ब-बॉय', 'दो औरतें', 'आंसुओं में लड़की', 'संगात् जायते कामः', 'नासूर' सरीखी कहानियां प्रेम, विवाह और देह संबंधों की जटिलताओं से बुनी गई हैं। इनमें संकेतित है कि देश हो या विदेश, स्त्री सर्वत्र विवश, संतप्त और पीड़ित है। 'आंसुओं में लड़की' की जमीला और 'संगात् जायते कामः' की सुदक्षिणा के अभिभावक उन्हें मनचाहा जीवन-साथी नहीं चुनने देते हैं। सुदक्षिणा विरोध-स्वरूप घर छोड़ देती है, लेकिन जमीला जैसी युवतियों की नियति है...'प्यार किसी से करते हैं, निकाह किसी से, और बेचैन किसी और के आगोश में होते हैं।' 'ब-बॉय' में धर्म 'विवाह' में आड़े आ गया है। क्रिश्चियन समर का मुसलमान प्रेमी इम्तियाज चाहता है कि विवाह से पहले वह धर्म बदलकर मुसलमान हो जाए। यद्यपि आर्थिक स्वावलंबन को नारी-मुक्ति का सिंहद्वार माना गया है, लेकिन कामकाजी युवती जमीला अपने फैसले लेने के लिए आजाद नहीं है। देह-व्यवसाय से जुड़ी युवतियां अधिक स्वतंत्र हैं। 'नातूर' में कहानीकार ने संकेत किया है कि 'इसमें लगभग पूर्ण स्वतंत्रता थी। जिसे इजी मनी कहते हैं, वह इस व्यवसाय के अलावा किसी और में नहीं थी।' 'दो औरतें' की संक्रांति से कोई जबर्दस्ती कुछ नहीं करा सकता। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के वर्चस्व से समाज और परिवार में अनेक परिवर्तन आए हैं लेकिन स्त्री अब भी समानता से वंचित है और स्त्री का अपनी देह पर अधिकार, उसे बेचने की स्वतंत्रता कोई उपलब्धि न होकर विडंबना है, त्रासदी है। 'दो औरतें' में मालिनी अपने पति की जानकारी और उसी के सहयोग से अपनी देह बेचकर अपने बच्चों के स्कूल की फीस और घर के अन्य खर्चों का जुगाड़ करती है। चाहे मालिनी हो या संक्रांति या डायना—ये सभी किसी किस्म के पाप-बोध या नैतिकता के आतंक से ग्रस्त नहीं हैं।

इन सभी कहानियों के 'नैरेटर' या यूं कहें कि 'पुरुष' का चरित्र कुछ इस तरह का है कि उसे सर्वथा वर्जना-मुक्ति या नैतिकता-विहीन होना स्वीकार्य नहीं है।

'दो औरतें' का 'मैं', 'संगात् जायते कामः' का अभय दोनों एकांतिक क्षणों में स्त्री की सहमति के बावजूद पीछे हट जाते हैं। 'दो औरतें' के 'मैं' की स्वीकारोक्ति है, ''मजबूर औरतों की मजबूरियों को जान लेने के बाद उनके साथ दैहिक धरातल पर जुड़ पाना मेरे लिए संभव नहीं हो पाता।'' इसे कुछ अत्याधुनिक पाठक और समीक्षक ऐसा आदर्शवाद कह सकते हैं, जो अस्वाभाविक है। स्वयं 'मैं' भी सोचता है कि क्या जरूरत थी धर्मात्मा

बनने की, लेकिन जब दूसरी वेश्या के साथ भी एक तरह की नैतिकता आड़े आती है तो निश्चय ही यह उसकी संस्कारबद्धता या सोच का अंग जान पड़ती है। 'संगात् जायते कामः' की पहल स्त्री ने की है और वह कोई मजबूर औरत नहीं है। वह परिपक्व सोच की युवती है—''सत्ताइस साल की उम्र तक देह को उसके प्राकृतिक सुख से वंचित रखना अपराध है।'' लेकिन अभय अपना विश्लेषण इस प्रकार करता है, ''मन जो कुछ कहता है, उसे आत्मा गंवारा नहीं करती, पाप लगता है।'' वस्तुतः कृष्ण बिहारी की कहानियों का 'नैरेटर' प्रायः ग्रामीण या कस्बाई परिवेश के सामान्य मध्यवर्गीय परिवार से निकला हुआ अनेक आंतरिक और बाह्य चुनौतियों से जूझ रहा प्रवासी है। अपने संस्कारों से सर्वथा मुक्ति उसके लिए संभव नहीं है। हालांकि वह जब-तब अपने तनाव को दूर करने के लिए शराब की शरण में जाता है, लेकिन वह अपने स्वभाव को मार नहीं पाता है।

एक कहानीकार के रूप में कृष्णबिहारी की पहचान बनाने में इन कहानियों की तुलना में 'इन्तजार', 'मकड़जाल' और 'पूरी हकीकत पूरा फसाना' का प्रदेय अधिक ठोस होना चाहिए। इन कहानियों से पता चलता है कृष्ण बिहारी मात्र काम-संबंधों के विशेषज्ञ कहानीकार नहीं हैं, उनके अनुभवों की भूमि विस्तृत है और वे घर, परिवार और समाज की विसंगतियों और कुरूपताओं के प्रति सजग और सचेत रचनाकार हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि 'इन्तजार' जैसी कहानियां न तो ब्यौरों और विचारों से आक्रांत हैं और न किसी विमर्श-विशेष का हस्तक्षेप इनमें है। कृष्णबिहारी ने कहीं लिखा है कि कल्पना पर आधारित मैं कुछ भी नहीं लिखता। हालांकि एक चरित्र से उन्होंने यह भी कहलवाया है कि 'सच' की कहानी नहीं, इतिहास होता है, जिसमें बहुत कुछ झूठ भी होता है, लेकिन 'इंतजार', 'मकड़जाल' आदि का कथ्य पूरा का पूरा जिया हुआ सत्य है, जो पाठकीय संवेदना को सहज ही छू लेता है।

'इंतजार' में पति द्वारा तिरस्कृत वंचित 'चाची' अपना दुख अकेले ही पीना चाहती है। वे गांव की पहली ब्राह्मण स्त्री हैं, जो खेतों पर जाती थीं। वे अपने पुत्रों से 'सुख' पाने का स्वप्न देखती हैं, लेकिन उन्हें उपेक्षा और अवज्ञा ही हाथ लगती है। कहानी के अंत में घर छोड़कर चले गए पति की बाट जोहती और बाबू को अपने पास पाकर खुश होती चाची एक अविस्मणीय चरित्र बन गई हैं। इंतजार 'मकड़जाल' के 'वह' को भी है, कब वह अपने और परिवारजनों के सपनों के मकड़जाल से मुक्त होकर अपने लिए जिएगा? 'पूरी हकीकत पूरा फसाना' अपने शीर्षक के अनुरूप शिक्षा जगत की हकीकत के बीच शिक्षक के दीप्त आत्मसम्मान की कहानी है। इस कहानी में आजादी की स्वर्ण जयंती का संदर्भ कई तरह की व्यंजनाओं से संबद्ध है। राजनेताओं के भ्रष्ट चरित्र से लेकर हिंदी की उपेक्षा तक हमारे आजाद भारत की अनेक कुरूपताएं इस बहाने अनावृत्त हुई हैं।

यद्यपि अधिकतर कहानियों में मनःस्थितियों का विश्लेषण अधिक स्थान घेरता है, लेकिन इनमें पठनीयता भरपूर है। आकर्षक कहन और सक्षम भाषा के सहयोग से संप्रेषणीय बन सकी हैं। कृष्णबिहारी ने अपने अभिप्राय को किस तरह पाठकों तक संप्रेषित करने के लिए कहानी में सार्थक प्रसंगों, मिथकों, बिंबों, अप्रस्तुतों को संश्लिष्ट किया है, 'मकड़जाल' उसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'चक्रव्यूह', 'सुरसा' क्रमशः जटिलताओं और संयुक्त परिवार की विकट आवश्यकताओं को उभारते हैं और कसाई-बकरे का स्मरण, आवारा कुत्तों को मारने का तरीका आदि प्रवासी मुक्तभोगी की यातना को गहराते हैं। 'इंजन' के माध्यम से परिवार में सबसे बड़े की जिम्मेदारी उठाने की व्यर्थता रेखांकित हुई है। कहीं अप्रस्तुतों की लड़ियां सी हैं, जो रचनाकार की संवेदनशीलता, पर्यवेक्षण-शक्ति और बिम्ब-ग्रहण कराने की क्षमता का प्रमाण देती हैं। 'आंसुओं में लड़की' का यह अंश 'उसमें एक अलग-सी खुशबू भी है, जो शायद बहुत कच्ची इमली की सी है या कुम्हार के चाक की माटी की है या पहली बारिश के बाद महक उठी धरती की है।' इस तरह के स्थल भाषा या शिल्प की कारीगरी दिखाने के लिए न होकर नई-नई जीवन-स्थितियों और मनस्थितियों की आवश्यक और आकर्षक प्रस्तुति के निमित्त हैं।

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़-22001 (उ.प्र.)

आवश्यक सूचना

समीक्षकों से अनुरोध है कि समीक्षा भेजते समय समीक्षित पुस्तक की विस्तृत सूचना फुटनोट में जरूर दें: यथा : पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम, पता, संस्करण, पृ. संख्या, मूल्य, इत्यादि।

संपादक

विमर्श का नया कोण

❑ *जगदंबाप्रसाद दीक्षित*

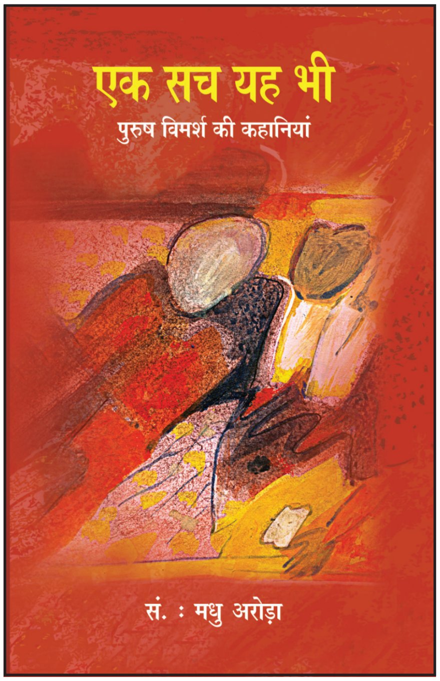

एक सच यह भी, सं. मधु अरोड़ा, प्र. कल्याणी शिक्षा परिषद् दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2012, पृ.सं. 256, ₹ 395.00

'एक सच यह भी' की कहानियों का चयन करते समय मधु अरोड़ा ने एक बिल्कुल नए निकष का प्रयोग किया है। यह नया निकष है, पुरुष विमर्श। साहित्य में अधिकांशतः नारी को पुरुषों के हाथों प्रताड़ित होते दिखाया गया है। स्त्री विमर्श की अवधारणा का आधार भी काफी कुछ यही है, लेकिन मधु ने इस एक पक्षीय आधार को तोड़ने का प्रयास किया है। 'एक सच यह भी' की कहानियां अलग-अलग कोणों से पुरुषों की त्रासदी का चित्रण करती हैं। यह कहने की जरूरत है कि स्त्री विमर्श की अवधारणा अधिकांशतः पुरुष प्रवर्तित है। यह मुद्दा उसी तरह है जिस तरह काव्य में नारी सौंदर्य आख्यान मूलतः पुरुष के दृष्टिकोण पर आधारित है। यह गलत भी नहीं है। इसी तरह साहित्य में नारी की ममतामयी, करुणामयी उदात्त छवि का अंकित किया जाना भी मूलतः पुरुषों के नजरिये से सामने आया है। यह भी गलत नहीं है। नारी की पीड़ा और दुःख तकलीफ की स्थिति को भी अधिकांशतः उदार और संवेदनशील पुरुषों ने ही वाणी दी है।

इस पृष्ठभूमि में पुरुष की प्रताड़ना और यातना को संवेदनशील नारी दृष्टिकोण से देखा जाना जरूरी है। मधु अरोड़ा ने यही किया है। उनका यह प्रयास पूरी तरह मौलिक, स्तुत्य और स्वागत योग्य है। कहानियों के चयन में सूझ-बूझ और व्यापकता की दृष्टि का प्रयोग किया गया है। एक ओर शेखर जोशी और उषा प्रियंवदा जैसे वरिष्ठ कथाकारों की कहानियां हैं तो दूसरी ओर मनीषा कुलश्रेष्ठ, पंकज सुबीर, कंचन सिंह चौहान और लक्ष्मी शर्मा जैसे युवा कथाकारों की कहानियां भी हैं। उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' हिंदी की बहुत चर्चित कहानियों में से एक है। गजाधर बाबू की त्रासदी काफी मार्मिक है। कहानी का आधार वे आर्थिक स्थितियां हैं, जो पुरुष को अपने ही परिवार में अजनबी और बाहरी व्यक्ति बना देती हैं। अपनी ही तरह के अन्य पुरुषों में वह अपना नया परिवार प्राप्त करने की कोशिश करता है।

इसमें शक नहीं है कि दलित विमर्श हो या फिर पुरुष विमर्श, पीड़ा और तकलीफ एक साझा सत्य है। इस सत्य के पीछे अधिकांशतः अधिक और व्यवस्थागत कारक काम करते हैं। पुरुषों की वास्तविकता के संदर्भ में मधु अरोड़ा का यह कथन काफी महत्त्वपूर्ण है, 'जीवन के इस सफर में कभी न कभी और कहीं न कहीं पुरुष का पति रूप अपनी पत्नी से पीड़ा पाता होगा, प्रताड़ित होता होगा।' यह विमर्श नहीं, बल्कि विचारणीय मुद्दा है। मेरे विचार से साहित्य विमर्शों की बुनियाद नहीं होती, विमर्श उसमें ढूंढ़े जाते हैं। यह तो हमें मानना होगा कि हिंदी साहित्य में पुरुष का पति पक्ष इस अभिव्यक्ति से उपेक्षित रहा है। (पुस्तक की भूमिका)

स्पष्ट है कि पीड़ा और प्रताड़ना पहले एक सत्य है, जो अपने मूल रूप में विमर्श नहीं है। पहले वह समस्या है, मुद्दा है, बाद में विमर्श उसमें ढूंढ़ा जाता है। मधु अरोड़ा

की जो बात पुरुष विमर्श के रूप में सच है, वही बात दलित और स्त्री विमर्श के संदर्भ में भी सच है। यहां भी दलितों, स्त्रियों की पीड़ा, प्रताड़ना मुख्य मुद्दा है। यह कहना जरूरी है कि सारे विमर्शों की कहानियां वास्तव में दुःख, तकलीफ और पीड़ा की कहानियां हैं, जिनके केन्द्र में हैं समाज के सताए हुए पात्र। दुर्भाग्यवश यह मान लिया गया है कि पूरा पुरुष वर्ग पीड़क के रूप में ही अब तक सामने आया है, पीड़ित के रूप में नहीं। साहित्य की दुनिया में अब तक यही हुआ है।

इसलिए मधु अरोड़ा के प्रस्तुत प्रयास का अपना महत्त्व है। इसने एक नयी जमीन तोड़ने की कोशिश की है। स्त्री को अगर बच्चा पैदा करने की मशीन बना दिया गया है तो पुरुष को भी पैसा कमाने की मशीन बना दिया गया है। जाहिर है कि पति के रूप में पुरुष को बाहर की दुनिया के संघर्षों से जितना जूझना पड़ता है, जितनी तकलीफ उठानी पड़ती है, दुःख झेलने पड़ते हैं, पत्नियां अनेक बार इसे समझ नहीं पातीं या उसे अपनी उपेक्षा का शिकार बना देती हैं। मधु ने स्त्री की उस पारंपरिक छवि को तोड़ने की कोशिश भी कर डाली है, जिसके अनुसार उसे हमेशा दया, करुणा और ममता की देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मधु के अनुसार, ''पत्नी कोई दूध की धुली नहीं है। मौका मिलने पर वह भी अपने रंग दिखाती है, घर से, परिवार से बगावत करने पर उतारू हो जाती है।'' (पुस्तक की भूमिका से)

मधु अरोड़ा का यह कथन इसलिए भी उल्लेखनीय हो जाता है, क्योंकि वह खुद एक स्त्री हैं और एक स्त्री का स्त्रियों के बारे में दिया गया मत अपना विशेष महत्त्व रखता है। यही बात अगर किसी पुरुष की ओर से कही जाती तो निश्चय ही वह 'मेल शाविनिज्म' हो जाता और ऐसे पुरुष को 'मेल शाविनिष्ट' की उपाधि से जरूर नवाजा जाता। यह भी उल्लेखनीय उपलब्धि है कि पुरुष प्रताड़ना और पीड़ा के प्रति संवेदना रखनेवाली अकेली स्त्री मधु अरोड़ा ही नहीं हैं। इस संकलन के माध्यम से उन्होंने यह बता दिया है कि अन्य अनेक स्त्रियां और पत्नियां हैं, जो लेखिका रूप में इस संवेदना से युक्त हैं।

इस संग्रह में संकलित उनकी कहानियां पुरुष पीड़ा के प्रति उनकी संवेदना को व्यक्त करती हैं। इन लेखिकाओं ने पूरी संवेदनशीलता के साथ पुरुष वर्ग के संत्रास को समझा है और जिनकी कहानियां इस संग्रह में संकलित हैं, वे हैं—उषा प्रियंवदा, सूर्यबाला, नासिरा शर्मा, लक्ष्मी शर्मा, मनीषा कुलश्रेष्ठ और कंचन सिंह चौहान। इन लेखिकाओं का पुरुष पीड़ा को आधार बनाकर कहानियां लिखना अपना विशेष महत्त्व रखता है। इन कहानियों की संवेदना में एक ऐसी प्रामाणिकता है, जिसकी अपील बहुत व्यापक है।

यह कहना भी जरूरी है कि स्त्री-पीड़ा पुरुषों की पीड़ा से एक खास अर्थ में भिन्न और विशिष्ट है। इसका कारण है, उसका मातृ पक्ष। मां के रूप में स्त्री जो सहती है, जितना कुछ झेलती है, वह उसे एक विशिष्ट दर्जा देता है, जो पुरुष पीड़ा और पुरुष विमर्श से उसे काफी ऊपर उठा देता है। इस बात को स्वीकार करना जरूरी है। इस संकलन की कहानियों में स्त्री अधिकांशतः पत्नी के रूप में पीड़क बनकर उभरी है। माता के रूप में अब भी उसकी दूसरी छवि है, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता। पुरुष विमर्श के संदर्भ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पुरुष का पितृ रूप स्त्री के मातृ रूप के समकक्ष कभी नहीं आ सकता। क्या यह कहा जाए कि इस संकलन में जिन लेखिकाओं ने पुरुष पीड़ा का संवेदनात्मक चित्रण किया है, उसके पीछे उनका मातृ तत्व काफी कुछ सक्रिय है।

बहरहाल, मधु अरोड़ा के इस सर्वथा मौलिक प्रयास का स्वागत होना चाहिए। कहानियों के संकलन में जिस कल्पनाशक्ति और चिंतन का प्रयोग किया गया है, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है।

2, लक्ष्मी बिल्डिंग, चार बंग्लो, एमटीएनएल वाली गली में अंतिम बिल्डिंग अंधेरी (प) मुम्बई-400053 (महाराष्ट्र)

पढ़ने के फायदे

- यह आपकी जिज्ञासा को शांत करता है।
- यह आपको शक्तिशाली बनाता है।
- यह आपको सूचना और जानकारी से भरता है।
- इससे 'क्यों' और 'कैसे' का जवाब मिलता है।
- आपके स्वाभिमान का निर्माण करता है।
- पढ़ना मनोरंजक और आनंददायक है।
- इससे सारी दुनिया आपके आस-पास होती है।
- बैठे-बैठे सारी दुनिया की सैर कराता है।
- यह आपको सदैव आगे रखता है।
- यह आपको अधिक बुद्धिमान और तेजोमय बनाता है।
- यह आपके व्यक्तित्व में निखार लाता है।
- यह आपका मानसिक क्षितिज बढ़ाता है।

सामयिक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण पेपरबैक्स पुस्तकें

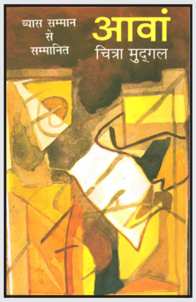

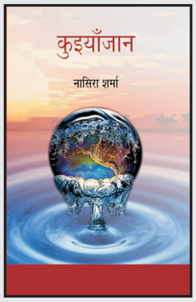

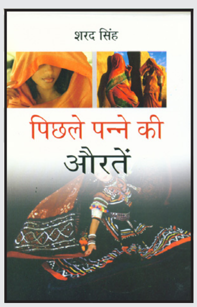

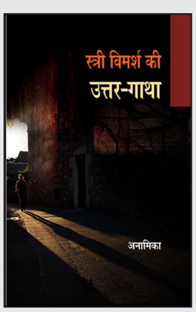

• आवां *(उपन्यास)*	चित्रा मुद्गल	₹ 300
• गिलिगडु *(उपन्यास)*	चित्रा मुद्गल	₹ 100
• कुइयांजान *(उपन्यास)*	नासिरा शर्मा	₹ 250
• मिलजुल मन *(उपन्यास)*	मृदुला गर्ग	₹ 200
• पिछले पन्ने की औरतें *(उपन्यास)*	शरद सिंह	₹ 150
• पचकौड़ी *(उपन्यास)*	शरद सिंह	₹ 150
• कस्बाई सिमोन *(उपन्यास)*	शरद सिंह	₹ 150
• यहीं कहीं था घर *(उपन्यास)*	सुधा अरोड़ा	₹ 150
• लेडीज़ क्लब *(उपन्यास)*	नमिता सिंह	₹ 150
• किन्नर कथा *(उपन्यास)*	महेन्द्र भीष्म	₹ 150
• आब्जेक्शन मी लार्ड *(उपन्यास)*	निर्मला भुराड़िया	₹ 120
• दावानल *(उपन्यास)*	नवीन जोशी	₹ 120
• सत्यवती *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• गांधारी *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• कुंती *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• देवकी *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• रुक्मिणी *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• पांचाली *(उपन्यास)*	सुशील कुमार	₹ 200
• पियरी का सपना *(कहानी)*	मैत्रेयी पुष्पा	₹ 150
• भारतीय ग्रामीण जीवन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• भारतीय नारी जीवन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• भारतीय सामाजिक जीवन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• भारतीय दलित जीवन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• भारतीय पारिवारिक जीवन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की कहानियां *(कहानी)*	प्रेमचन्द	₹ 90
• सामयिक मीडिया शब्दकोश *(पत्रकारिता)*	हर्षदेव	₹ 120
• पत्रकार और पत्रकारिता प्रशिक्षण *(पत्रकारिता)*	अरविन्द मोहन	₹ 120
• टेलीफिल्म : निर्माण-कला *(पत्रकारिता)*	विवेकानन्द	₹ 120
• पहला संपादकीय *(पत्रकारिता)*	विजयदत्त श्रीधर	₹ 120
• पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा *(पत्रकारिता)*	आलोक मेहता	₹ 100
• फोटो पत्रकारिता *(पत्रकारिता)*	नवल जायसवाल	₹ 100
• योद्धा पत्रकार *(पत्रकारिता)*	हेमंत	₹ 100
• आवाज *(स्त्री विमर्श)*	मैत्रेयी पुष्पा	₹ 150
• चर्चा हमारा *(स्त्री विमर्श)*	मैत्रेयी पुष्पा	₹ 120
• खुली खिड़कियां *(स्त्री विमर्श)*	मैत्रेयी पुष्पा	₹ 120
• मौसम बदलने की आहट *(स्त्री विमर्श)*	अनामिका	₹ 150
• स्त्री विमर्श की उत्तर-गाथा *(स्त्री विमर्श)*	अनामिका	₹ 150

सामयिक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण पेपरबैक्स पुस्तकें

• मात्र देह नहीं है औरत *(स्त्री विमर्श)*	मृदुला सिन्हा	₹ 120
• बिटिया है विशेष *(स्त्री विमर्श)*	मृदुला सिन्हा	₹ 90
• स्त्री आकांक्षा के मानचित्र *(स्त्री विमर्श)*	गीताश्री	₹ 120
• औरत की बोली *(स्त्री विमर्श)*	गीताश्री	₹ 120
• औरत के लिए औरत *(स्त्री विमर्श)*	नासिरा शर्मा	₹ 150
• स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास *(स्त्री विमर्श)*	रमणिका गुप्ता	₹ 150
• हम सभ्य औरतें *(स्त्री विमर्श)*	मनीषा	₹ 180
• हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास *(स्त्री विमर्श)*	नीरजा माधव	₹ 180
• स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास *(स्त्री विमर्श)*	संजय गर्ग	₹ 180
• आम औरत : जिंदा सवाल *(स्त्री विमर्श)*	सुधा अरोड़ा	₹ 120
• जीना है तो लड़ना होगा *(स्त्री विमर्श)*	बृंदा करात	₹ 90
• आधी दुनिया का सच *(स्त्री विमर्श)*	कुमुद शर्मा	₹ 100
• विद्यार्थी विज्ञान शब्दकोश *(विज्ञान शब्दकोश)*	दयानंद पंत/विनोद कु. मिश्र	₹ 200
• भारत में विज्ञान और भारतीय वैज्ञानिक *(विज्ञान)*	विनोद कुमार मिश्र	₹ 180
• आइजक न्यूटन : जीवन के रोचक प्रसंग *(विज्ञान)*	विनोद कुमार मिश्र	₹ 120
• अल्बर्ट आइंस्टाइन : जीवन के रोचक प्रसंग *(विज्ञान)*	विनोद कुमार मिश्र	₹ 75
• आज भी खरे हैं तालाब *(पर्यावरण विज्ञान)*	अनुपम मिश्र	₹ 90
• अंतरिक्ष क्वीन सुनीता विलियम्स *(विज्ञान)*	निर्भय कुमार	₹ 90
• खुशी का विज्ञान *(विज्ञान)*	निर्मला भुराड़िया	₹ 90
• मुख्यधारा और दलित साहित्य *(दलित विमर्श)*	ओमप्रकाश वाल्मीकि	₹ 150
• भूमंडलीकरण और भारत *(भूमंडलीकरण)*	अमित कुमार सिंह	₹ 200
• भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र *(भूमंडलीकरण)*	प्रभा खेतान	₹ 200
• पढ़ने का आनंद *(शिक्षा)*	प्रेमपाल शर्मा	₹ 150
• भारतीय संतों की श्रेष्ठ कथाएं *(पौराणिक)*	हरि भारद्वाज	₹ 150
• श्रेष्ठ जैन कथाएं *(पौराणिक)*	शरद सिंह	₹ 100
• मंत्र, स्तोत्र और कवच *(अध्यात्म)*	वीरेन्द्र कुमार गौड़	₹ 75
• सुभाषचंद्र बोस : कुछ अधखुले पन्ने *(इतिहास/जीवनी)*	राजशेखर व्यास	₹ 150
• भगतसिंह : कुछ अधखुले पन्ने *(इतिहास/जीवनी)*	राजशेखर व्यास	₹ 150
• बादशाह दरवेश गुरु गोबिंद सिंह *(इतिहास/जीवनी)*	जगजीत सिंह	₹ 100
• हिन्दी फिल्मों का संक्षिप्त इतिहास *(सिनेमा)*	दिलचस्प	₹ 120
• हिन्दी सिनेमा के 100 वर्ष *(सिनेमा)*	दिलचस्प	₹ 120
• बहुरंगी हिन्दी ग़ज़लें *(ग़ज़ल)*	सं. रोहिताश्व अस्थाना	₹ 100
• इन्द्रधनुषी हिन्दी ग़ज़लें *(ग़ज़ल)*	सं. रोहिताश्व अस्थाना	₹ 100
• ग़ज़ल सप्तक *(ग़ज़ल)*	गोपालकृष्ण कौल	₹ 60

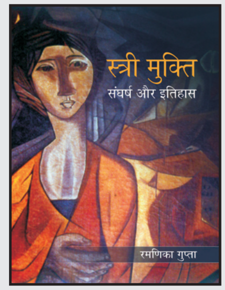

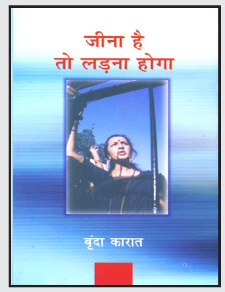

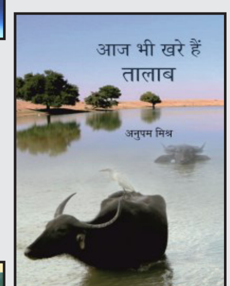

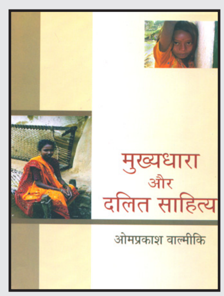

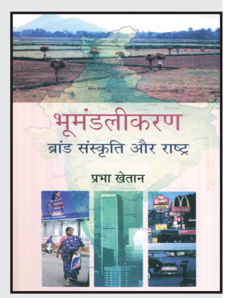

विस्तृत सूची पत्र एवं क्रय आदेश के लिए लिखें:

सामयिक प्रकाशन

फोन : (011) 23282733, टेलीफैक्स : (011) 23270715

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

E-mail: samayikprakashan@gmail.com • E-mail: samayikprakashan@rediffmail.com

एक 'लिखावट' यह भी

❑ *चन्द्रकला त्रिपाठी*

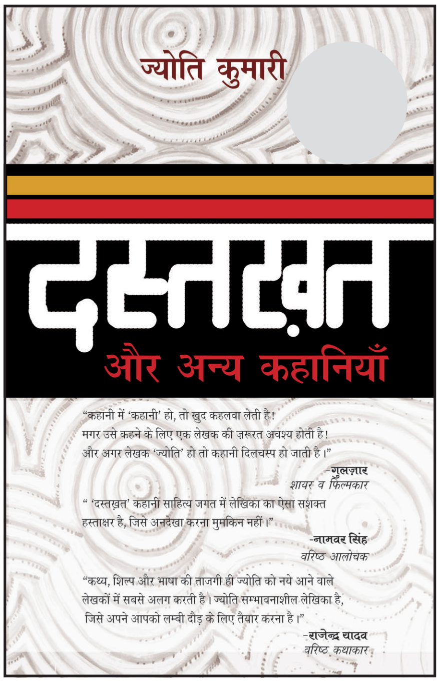

दस्तखत और अन्य कहानियां, ले. ज्योति कुमारी,
प्र. वाणी प्रकाशन
दरियागंज नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2013, पृ.सं. 150, ₹ 100.00

ज्योति कुमारी के 'दस्तखत एवं अन्य कहानियां' शीर्षक संग्रह में कुल नौ कहानियां हैं।

ज्योति कुमारी की ये सभी कहानियां जीवन प्रसंगों, कथा चरित्रों, परिवेश और मूल्य चिन्ता के संदर्भ में भी अतिरिक्त रूप से मुखर कहानियां हैं। यहां सब कुछ लेखिका के प्रत्यक्ष बयानों में है। अनुभव चाहे भीतर के हों या बाहर के, उनका राई-रत्ती में वर्णन किया जाना तय है। इस प्रकार रचनात्मक आवेगमयता का तीव्र प्रवाह कहानियों में अपनी जगह लेता है।

'शरीफ लड़की' में लड़की की शराफत को लेखिका स्त्री विरोधी पारिवारिक-सामाजिक चौकसी के संदर्भ में एक व्यंग्य की तरह विकसित करना चाहती है। लेखिका की आकांक्षा है कि इस कहानी में लड़का-लड़की के अंतर की विषमताएं भी देख ली जाएं और लड़की की आकांक्षाओं का असम्भव भी अपने तीव्र तनावों सहित उभर आए, मगर कहानी है कि सरपट भागती है, जरूरी तनावों की नब्ज पर ठीक-ठीक उंगली रखे बिना आगे बढ़ जाती है किन्तु लड़की को इन स्थितियों के बरक्स अतिरिक्त रूप से जस्टिफाई करना नहीं भूलती। उस लड़की की मनोरचना और बाह्य यथार्थ से उसके रिश्तों में भी ऐसी ही अतिशयताएं मौजूद हैं। 'डॉट्स' का तो लेखिका के पास जैसे खजाना है, शब्दों के बीच वे तमाम जगहों पर जैसे बुलबुले से बना रही हैं। आवेग की तीव्रता के साथ चलती भाषा के लिए यह शायद स्वाभाविक हो! अतः रंजना के जीवन की विडंबना और व्यंग्य अपने सटीक आधार के साथ सुसंगत रूप में विकसित हों, उसके पहले ही कहानी बिखर जाती है। यथार्थ को उसकी जटिलता और विरोधाभासी तनावों में पकड़ने की जरूरत को एक तरफ करती हुई यह कहानी 'रंजन' के ढह जाने की स्थिति को भी ऐसी ही अनायासता में लिख गई है।

'टिकने की जगह' में रोमांस के प्रसंग में सांप्रदायिक अंतर का परिवेश रचा गया है और हिन्दू-मुस्लिम रहन-सहन के स्वभाव में भीतर से भिन्नता का वह कठिन असर पहचाना गया है, जो तय है कि आज तक इस तरह शायद नहीं पहचाना गया था। ज्योति कुमारी इस कहानी में भले ही ऐसे किसी बड़े राजनीतिक-सामाजिक मुद्दे के साथ सक्रिय न हो, मगर धार्मिक असहिष्णुता के भीतर प्रभावों की पड़ताल वे ज्यादा विश्वसनीय ढंग से करती हैं। लेखिका ने 'प्रेम' की ऐन्द्रिक-भावनात्मक शक्ति को इन सारे प्रभावों से जूझकर थहाना चाहा कि और कहीं वह इसके साफ बेदाग और उद्दाम रूप को भी लिखना चाहती है, बल्कि जहां कहीं उसे ऐसे 'प्रेम' के लिए जगह मिलती है, वह इसे भरपूर

लिखती है। इस प्रेम के भीतर 'आदिम' का एक खलिशभरा दखल भी है, जो उस ढंग की उद्दामता में निखरा है। यहां से उभरती तृप्ति में एक उत्ताल संगीत बजता है। 'दो औरतें' में भी इस उद्दामता के रंग हैं। पता नहीं लेखिका ने बिहारी को पढ़ा है या नहीं, उनकी नायिकाएं भी रति रस से भीगी हुई साड़ी (मरगजै चीर) इसीलिए नहीं धुलाती हैं। हिंदी साहित्य में प्रणय के ऐसे ऐंद्रिक रूपों को लेकर भारी शुद्धतावाद है, लेखिकाओं के मामले में तो नजर और भी चौकन्नी है। ज्योति कुमार यहां बेपरवाह है और यह बेपरवाही ठीक भी है, किंतु कहानी की एकांविति में 'डिटेलिंग' संदर्भों, घटनाओं और चरित्रों के आपसी संबंध, वस्तुगत यथार्थ की अर्थवान सृजनात्मक सघनता और इन सबके भीतर का सटीक कसाव वगैरह महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये चीजें कथा के भीतर अपनी रचनात्मक समग्रता और असर निर्मित करती है। वर्णन की स्फीति, दुहराव या जुमलों की यूं ही सी चमक आदि यदि कहानी के भीतर की मांग के अनुरूप हैं तो ठीक हैं, वरना ये थोड़ा चौंकाऊ टाइप लगकर आस्वाद को शिथिल कर सकते हैं। 'दो औरतें' में भी स्त्री के बदलाव के वस्तुगत संदर्भों की आंतरिक जटिलता जरा ध्यान देकर विकसित करने की चीज थी। ब्योरे हर जगह बहुत काम के नहीं होते और न ही घटित के बयान भर से संकेतों की यह गझिनता बन पाती है। 'दस्तखत' कहानी में पुनः लेखिका एक दबाई गई स्त्री की कठिन मनोरचना को उधेड़ना चाहती है और सिलसिलेवार ढंग से वैसे प्रसंगों का उल्लेख करती है, जो इन दबावों की आत्यंतिकता को उभारें। लेखिका यहां इस कथ्य में सूक्ष्मता भरना चाहती है, परन्तु भाषायी मुखरता इन संकेतों का ओर-छोर खोलकर रख देती है। देखा जाए तो 'दस्तखत' स्त्री नियति में धंसी निस्सहायता के सही बिन्दुओं को छूना भी चाहती है किन्तु स्त्री विरोध की भंगिमा में कसे हुए बाकी चरित्र कुछ तयशुदा तरीके से टाइप या कहें कि फिल्मी हो गए हैं। किन्हीं स्तरों में उनके स्वभाव की आन्तरिक संगति भी भंग हुई लगती है। 'बीच बाजार' जैसी कहानी में बाजार के दखल से आक्रान्त जीवनानुभव दर्ज हैं।

'होड़' शीर्षक कहानी में पूंजी समय की नृशंसता उधेड़ने वाला यथार्थ है। लेखिका की कल्पनाशीलता बाजार के ऊलजलूल की जड़ों तक जाना चाहती है। पूंजी की अश्लीलता यहां चरम पर है। 'स्वर्ग की थीम' के भीतर से नरक के अभाव, तिरस्कार और दमन को लेखिका ने यहां जाहिर करना चाहा है।

'नाना की गुड़िया' अवश्य ही एक अपेक्षाकृत सधे हुए शिल्प की कहानी है। बहुस्तरीय यथार्थ की जटिलतम तहों को स्पर्श करती हुई यह कहानी 'दहेज' की अमानुषिकता को उधेड़ने वाली कहानी भर होकर नहीं रह जाती बल्कि इससे कहीं आगे जाकर स्त्री की प्रखर स्वाधीनता के संघर्ष के हिस्सों तक जाती है और समाज तथा परिवार के कुसंस्कृत रवैये की भी पहचान करती है। अपने अंतर्गठन में भी यह कहानी ज्यादा चुस्त और वस्तुनिष्ठ भी है।

इसी प्रकार 'विकलांग श्रद्धा' में भी स्त्री के तिरस्कृत जीवन के कुछेक अनुभव प्रसंग है, जिनमें फिर से कथा में कल्पित अनुभवों को जमा देने की कोशिश ज्यादा उभर आई है। कहानी में दो स्त्रियों का जीवन है। एक पुरानी और पारंपरिक स्त्री है और दूसरी बेहद आधुनिक, बिन्दास और आजाद खयाल लगने वाली स्त्री। किसी मोड़ पर आकर इन दोनों स्त्रियों के जीवन की सच्चाइयां एक-दूसरे से मिलती-जुलती साबित होती हैं। कहानी कहने वाली लड़की इन दोनों स्त्रियों की आत्मीय और इनके अभावों-पीड़ाओं की द्रष्टा है। इन दोनों स्त्रियों के जीवन के हश्र उसे घेरते हैं और तब उसे बहुत से सवालों के हल कहीं से पाने हैं। इन्हीं त्रास भरे अनुभवों के साथ ट्रेन यात्रा करती हुई वह सहयात्रियों से मौजूदा वक्त के विघटन के बारे में आम राय भी सुनती चलती है। कहानी की रचनात्मक गढ़न के बारे में किसी का कहा याद आ रहा है कि उसके विन्यास और विकास में कभी भी ऐसी किसी चीज को शामिल नहीं करना चाहिए, जिसकी उसके केंद्रीय रचनात्मक अर्थ की निर्मिति में कोई सृजनात्मक भूमिका न हो। ज्योति कुमारी की कहानियां अक्सर अपनी बुनावट में कहानी के मूल अर्थ से खिसके हुए प्रसंगों, चरित्रों या कि घटनाओं आदि को जगह दे देती हैं और कहानी की एकान्विति को कमजोर कर देती हैं। कहानी के लिए उसके साथ कथ्य, संवेदना या चरित्र की तरह ही उसके सघन रचनात्मक अंतर्गठन का पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता है। ज्योति कुमारी की कहानियों का यह पक्ष प्रायः कमजोर है।

प्लॉट नं. 59, लेन नं. 8ए महामनापुरी कॉलोनी एक्सटेंशन पो.आ.बी.एच.यू, वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

श्याम रंग की उज्ज्वल व्यंग्य-व्यंजनाएं

❑ गौतम सान्याल

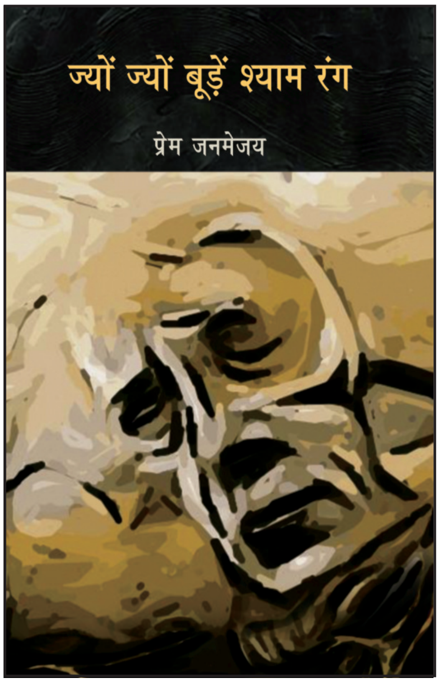

ज्यों-ज्यों बूड़ें श्याम रंग, ले. प्रेम जनमेजय, प्र. सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2012, पृ.सं. 144, ₹ 250.00

आज हिंदी-व्यंग्य के नाम पर ताबड़तोड़ जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उनमें अधिकांश 'गऊओं का भी अखाद्य' ही है, मगर दुखती रगों के इस जंगल से एक सुखदा पगडंडी, वह भी निकलती है कि जिस पर चल पड़ें तो दीख पड़ता है कि दिवंगत परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी के बाद, हिंदी का 'सच्चा व्यंग्य' किस दिशा की ओर गया है...बात धरोहर की नहीं, बल्कि धराई-टिकाई-रखाई व 'बढ़ाई' की है, बात जेनुइन व्यंग्य की अमानत की नहीं, बल्कि अमान (हिफाजत) की है, बात अमीद (नेतृत्व) की नहीं, बल्कि उम्मीद की है।

प्रेम जनमेजय के व्यंग्यों को वर्षों से पढ़ते हुए, निःसंकोच कह पा रहा हूं कि परसाई- शरद जोशी-श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्यों की इन्हीं खासीयतों को आज मुट्ठियों में जो मुट्ठीभर व्यंग्यकार संभाले हुए है, प्रेम उनमें अन्यतम है। उच्चतर व्यंग्य की तीसरी विशेषता है–'उपयुक्त व्यंग्य-क्षेत्र' का निर्माण। व्यंग्य का स्तरीकरण मात्र व्यंग्य-वस्तु, विषय, भाव, वार्ता या संदेश व कथ्य-कहन से तय नहीं होता। देखना यह है कि उस अभिकथन पर संरचना का निर्माण कैसा हुआ है।

कुल जमा तैंतीस व्यंग्यों का संकलन है–'ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रंग' जिसके दर्जनेक व्यंग्य-क्षेत्र सचमुच विशिष्ट, विलक्षण और हिंदी में अल्पलभ्य हैं, यह स्कोर प्वाइंट तो प्रेम जनमेजय के पक्ष में जाता ही है। सचमुच विलक्षण व्यंग्य-क्षेत्र की मिसाल है–'ओम गंदगी आय नमः'। इसका विशिष्ट पैटर्न दुर्लभ है, इसके कथासूत्र (मोटिफ) अभिनव है। यह व्यंग्य कालिदास के 'मेघदूत' और मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के वर्ण्य-वृत्त का अतिक्रमण कर हमें अत्याधुनिक जीवन के नागरिक यथार्थ मूलक 'आषाढ़ के पहले दिन' की 'रिडीक्यूल' यथा प्राप्ति में ले चलता है। यह व्यंग्य बड़ी आत्मीयता से हमें यह बताता है कि किसी आषाढ़ के पहले दिन जब महानगर में बारिश हुई तो क्या-क्या हुआ। पूरा परिदृश्य एक सुविधापरस्त मंचीय कवि और उसकी पत्नी, जो कामवाली के न आने से बदहाल हैं, उनकी बाल्कनी से देखा गया है–मोर और मोरनी के रूपक में। रात की दारू पार्टी के असंख्य जूठे बर्तनों का ढेर पड़ा हुआ है और बालकनी में आकर मोर-युगल देखते हैं कि सामने की गंदी बस्ती पर देर रात बुलडोजर चल चुके हैं, शहर के सौंदर्यीकरण के चक्कर में लेकिन विडम्बना यह है कि इसी चक्कर में कामवाली बाई नहीं आई है। रचना के इंट्रो में नगर के सौंदर्यीकरण का दार्शनिक विवेचन अब रिडिक्युल लफ्फाजी में बदल चुका है–इंदुवदन नगर के लिए सुंदरता जो जरूरी है, मगर घर-घर की सफाई और सुंदरता के लिए गंदगी से भरी हुई बस्तियां भी–आलेख के आरंभ का कालिदास-प्रसंग (आषाढ़ का पहला दिन) अंत के विद्रूप के विवेकानंद के विस्फोट में ढलकर, हमें उत्कृष्ट व्यंग्य की प्राप्ति से भर देता है।

व्यंग्य-क्षेत्र की दृष्टि से, कदाचित इस संकलन का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य है—'राम वनवास का सीधा-प्रसारण'। फिल्म 'पिपली-लाइव' के प्रतिरूपक में गढ़ा गया इसका व्यंग्य-क्षेत्र अभिनव है, अल्पलभ्य है, श्रेष्ठ है। इस व्यंग्य की आख्यान-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है कि 'नव-निर्माण' होते हुए भी इसकी आख्यानयिकी में कहीं भी व्यतिक्रम नहीं, व्यवधान या व्याघात नहीं। यह हाइवे की तरह है—सीधा, गतिसंपन्न और दूरगामी। इसी तरह, 'जात ही पूछो साधो की' या 'नया शतरंज नए खिलाड़ी' का व्यंग्य-क्षेत्र—यह तो प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' का यूनीक-रीमेक है। शतरंज की बिसात पर वर्तमान राजनीति यह फूलटू-फुलब्लोन भरपूर और पूर्ण विकसित, हालात का अनवद्य विवरण है अभिनव, आकर्षक और विलक्षण।

विलक्षण व्यंग्य-क्षेत्र होने के बावजूद भी 'वसंत, तुम कहां हो' की संरचना चरमराई हुई है, पुराने खटिये में नई रस्सी की तरह। बनावट अच्छी है, मगर बुनावट में गड़बड़ी है, मगर इसका व्यंग्य-क्षेत्र विलक्षण है। बड़ी गंभीरता से प्रश्न उठाया गया है कि वसंत मात्र ऋतुपर्णता है या कुछ और? क्या वह आनंद, यौवन, उद्दीपक मौसम का मात्र एक 'चेहरा' है या कि आम जीवन की स्थितियां? पूरी रचना में अनुगुंजित जो प्रतिप्रश्न है, वह तो मार्के का या मारक है—क्या वसंत आम आदमी की महंगाई 'यूटोपिक-एक्जम्पशन' (स्वप्निल मुक्ति) है? वह वसंत जो इन दिनों दिखाई नहीं दे रहा और जो कि वित्त मंत्रालय में इन दिनों किसी टाइपिस्ट की तरह बंद है कि जब तक बजट पेश नहीं हो जाता, वह वहीं बंद रहेगा।

प्रेम जनमेजय जब कभी आख्यान में उपयुक्त स्ट्रेस-प्वाइंट को अन्वेषित करने में सफल हो जाते हैं, उनका व्यंग्य परसाई-स्तर को छू लेता है—परसाई-स्कूल का व्यंग्य होने के बावजूद 'प्रभु जी, दौरे पर' का व्यंग्य-क्षेत्र 'अभिनव' बन गया है, चूंकि इसका स्ट्रेस-प्वाइंट उपयुक्त है। प्रभु, लीला करने भारत देश का दौरा करने वाले हैं लेकिन यहां के धार्मिक हालात का विवरण (बाबरी विध्वंस या महाराष्ट्र का मराठा मानुष आदि) सुनकर वे हतोत्साहित हो जाते हैं, प्रभु जी मृत्युलोक का दौरा स्थगित कर देते हैं। आख्यान का यही स्ट्रेस-प्वाइंट इस व्यंग्य का पथ-पाथेय-परिसर है और इसी निमित्त यह व्यंग्य मार्के का बन गया है।

'जात ही पूछो साधो की' और 'आत्मा की आवाज' या 'ज्यों-ज्यों बूड़ें श्याम रंग'—इसी कोटि का व्यंग्य है। पहला व्यंग्य जातिभेद और भारतीय राजनीति के अभेद्य-संपर्क को दूर तक न्यूड (नंगा) कर देता है। 'महानता का दौर' का स्ट्रेस-प्वाइंट यह है कि आज महानता किन शर्तों पर खरीदी जा सकती है। 'नयी शतरंज, नये खिलाड़ी' का व्यंग्य-क्षेत्र भी उल्लेखनीय है, दूसरा व्यंग्य तो शतरंज की बिसात पर वर्तमान राजनीति के बहुचर्चित, बहुपठित वस्तुस्थिति का अभिनव रिमेक है—एक नया व्यंग्य-क्षेत्र।

दुर्लभ व्यंग्य-क्षेत्र के अन्वेषण के बावजूद, कांपोजिशन में तारतम्यता के अभाव के कारण या विशिष्ट पैटर्न की डिमांड को न समझ पाने के एवज प्रेम के कई व्यंग्य बिखरे-बिखरे प्रतीत होते हैं—जैसे कि 'महंगाई का बेताल और पुरस्कार का राजन' 'हे देवतुल्य तुझे प्रणाम' या इसका सबसे अच्छा उदाहरण है—'अंधेरे के पक्ष में उजाला!' पहले व्यंग्य के आख्यान-वृत दोहरे हैं—एकतरफा महंगाई तो दूसरी तरफ साहित्यिक पुरस्कार की राजनीति। दोनों आख्यान के संकेतायन में तालमेल की जगह 'घालमेल' हो गया है। 'हे देवतुल्य, तुझे प्रणाम' व्यंग्य के छद्‌म में लघुकथा ही है जबकि लघुकथा के छद्‌म में व्यंग्य होता तो उच्चस्तरीय होता। इसी तरह, विशिष्ट पैटर्न की मांग व आकांक्षा को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण उजाले और अंधकार के 'प्रतिरूपक' में गढ़े गए इस व्यंग्य (अंधेरे के पक्ष में उजाला) में मैंने अपरिसीमित संभावनाओं को आत्महत्या करते हुए देखा है।

लेकिन उत्कृट व्यंग्य-क्षेत्र के क्रमवार निर्माण में प्रेम जनमेजय की उपलब्धि इन्हीं बातों तक सीमित नहीं है। जहां तक ज्ञान चतुर्वेदी के बाद हिंदी में व्यंग्य-क्षेत्र के निरन्तर-निर्माण के संख्यावाची-सर्वेक्षण का प्रश्न है, सच कहूं तो मुझे प्रेम जनमेजय अकेले दिखाई देते हैं।

सूचना यह है कि प्रेम के इस संकलन में भी इन उज्ज्वल दृष्टांतों का अभाव नहीं है। पुनः कुत्तो भव, आत्मा की आवाज, राधेलाल का कुत्ता, अथ क्रेडिट कार्डाय नमः, जाओ मेरे काले बाल—ऐसे व्यंग्यों के ही प्रमाण हैं। इन व्यंग्यों की सबसे बड़ी विशेषता है, एक छोटी-सी बात पर व्यंग्य का Frolic Structure (आमोदपूर्ण संरचना) का कामयाब निर्माण।

मुझे लगता है कि प्रेम जनमेजय भाषा के इस कोडीकरण के बारे में 'अनजाने में' जानते हैं, जैसा कि वे 'जेनेटिक्स' या 'डी.एन.ए.' या 'सरोगेटेड चाइल्ड' के बारे में, मगर वे ठीक-ठीक इसके बारे में विस्तार से नहीं जानते। अतएव कभी वे उनका सदुपयोग कर लेते हैं तो कभी दुरुपयोग भी।

इतनी शंसित टिप्पिणयों के बाद, इतने अच्छे व्यंग्य लिख लेने के बाद, संकलन के पहले आमुख के छद्‌म में, आठ पृष्ठ का यह पादरीनुमा या मठाधीशपना प्रवचन—'व्यंग्य कैसे और क्यों?' मैं पूछता हूं कि ऐसा क्यों? आप पाठकों की जान सॉरी, क्लास ले रहे हैं क्या? मुझे किसी भी नजरिये से यह मठाधीशयी पची नहीं! तो स्पष्ट कहता हूं कि भाई, सॉरी महंते, क्षमा करेंगे हंते, अपनी उत्कृट फसलों को इन घुसपैठियों से बचाइए, वर्ना आप हिंदी व्यंग्य के इतिहास में किसी मठाधीश या च्यवनप्राश ऋषि की तरह याद किए जाएंगे!

विभागाध्यक्ष हिंदी-विभाग, वर्द्धमान विश्वविद्यालय गुलाब बाग वर्द्धमान-713194 (पं. बंगाल)

लेखकीय गरिमा के विनम्र आत्मकथ्य

❑ *प्रमोद भार्गव*

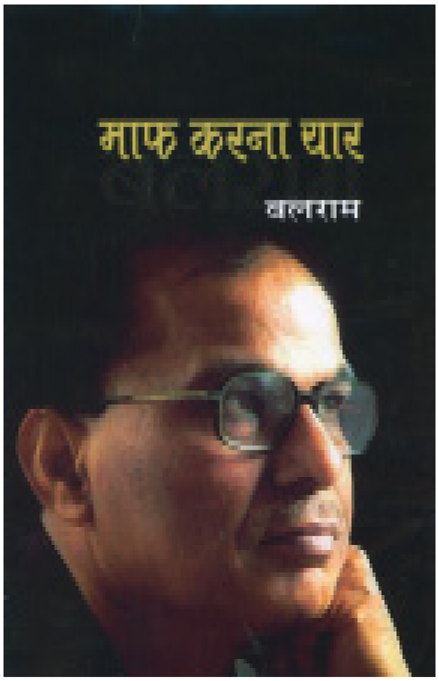

माफ करना यार, ले. बलराम
प्र. सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 256, ₹ 360.00

आत्मकथा, आत्मकथ्य और आत्मीय-संस्मरण भोगे और जिए अनुभवों के लेखकीय दस्तावेज होते हैं। इसलिए ये अकसर लिखे नहीं जाते, बल्कि विभिन्न शाब्दिक आयाम लेते हुए अंकित हो जाते हैं। इसी विवशता के चलते 'माफ करना यार' पुस्तक की भूमिका में बलराम साफगोई से स्वीकारते हैं, ''बैठे तो थे आत्मकथा लिखने, लेकिन पता नहीं ये क्या लिख बैठे, शायद संस्मरण या फिर इन्हें आत्मकथात्मक संस्मरण कह लीजिए।'' जब लेखक ही लिखी गई पुस्तक की विधा पर साफ नहीं है, तो समीक्षक की दृष्टि कैसे साफ बने? अंततः इस पुस्तक में दर्ज आलेखों से एक समूची और सम्यक आत्मकथा तो नहीं बनती, लेकिन आत्मकथात्मक संस्मरणों की आत्मीयता, हौसले के परों पर महत्त्वाकांक्षाओं की उड़ान, जैविक जज्बों की जटिलताएं और बहुत थोड़े में अपनों के छद्म-छल एवं अन्याय-अविश्वास के ऐसे विनम्र बयान जरूर हैं, जो इस किताब को एक ऐसी रोचक कहानी बना देते हैं।

लेखक की विधा संबंधी दृष्टि भले ही साफ न हो, लेकिन लेखक के वैचारिक आधार का स्रोत साफ है। लेखक अपना दृष्टि मंत्र न मार्क्स से लेता है, न गांधी से, न ही लोहिया से, न फासीवाद से और न ही उत्तरआधुनिक यथार्थवादी अवधारणा से। उन्हीं के शब्दों में कहें तो वे अपने जीवन के लिए जिजीविषा और रचना के सूत्र कृष्ण दर्शन से लेते हैं। बलराम के ही शब्दों में, 'जीवन और कर्म में कृष्ण हमारे आदर्श रहे। आदर्शों को युगानुकूल बनाने का मंत्र भी कृष्ण से ही लिया और उन्हीं से पाई परिणाम की चिंता न करने की शिक्षा।' यह जानकर हैरानी होती है कि जब उनकी पीढ़ी के ज्यादातर लेखक मार्क्सवाद का जेबी संस्करण कंधे पर लटके थैले में लिए चलते थे, तभी शायद बलराम ने अनुभव कर लिया था कि सिद्धांतों के आधार पर संप्रदाय तो स्थापित हो सकते हैं, लेकिन मूल्यों का निर्माण असंभव है। लेखक को किताब में बार-बार यह दोहराने में संकोच नहीं होता कि, 'हमने अपने अनुभवों से यह भी जाना कि एक सीमा के बाद क्या तो वामपंथ और क्या तो दक्षिणपंथ, दोनों ही मनुष्य को पार्टी कार्यकर्ता जैसे रोबोट में बदल सकते हैं, उसे सहज मनुष्य तक नहीं रहने देते। शायद यही वजह रही है कि बलराम किसी एक संघ या संगठन से जुड़े लेखकों के संस्मरण और उनकी कृतियों का मूल्यांकन नहीं करते, बल्कि जिन-जिन का आचरण उन्हें निर्विकार रूप से लुभाता है और जो-जो रचनाएं उनके वैचारिक अवचेतन की भाव-भूमि पर खरी उतरती हैं, वे इस किताब में सम्माजनक स्थान पाती हैं।

बलराम की इसी वैचारिक उदारता के चलते इसमें जैनेंद्र, यशपाल, अज्ञेय, शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ, नागार्जुन, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, विद्यानिवास मिश्र, शानी, रमेशचंद्र शाह, रवींद्र कालिया, कन्हैयालाल नंदन, चित्रा मुद्गल, दामोदर खड़से, प्रभाकर श्रोत्रिय, उदयप्रकाश, संजीव, केशव, शिवमूर्ति, अशोक चक्रधर, अशोक वाजपेयी, राजकमल, सूर्यकांत नागर, महेश दर्पण, राजकुमार गौतम,

धीरेंद्र अस्थाना, मंगलेश डबराल, राजेंद्र राव, विनोद दास, नामवर सिंह, परमानंद श्रीवास्तव और पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे वैचारिक भिन्नता वाले लेखक-समीक्षक हैं। उदारवादी समता का ऐसा ही समुच्य संपादक-पत्रकारों का है। हो भी क्यों न, बलराम एक साथ कथाकार, पत्रकार और समीक्षक जो हैं। इसीलिए उनके इस त्रिआयामी रचनात्मक वैविध्य का फलक विस्तृत है। पैंतीस-चालीस साल के इस लंबे कालखंड में लेखकों की जाती हुई पीढ़ी है, स्थापित पीढ़ी है और आती हुई पीढ़ी है। बलराम का इन तीनों ही पीढ़ियों के लेखक-पत्रकारों से तादात्म्य की तरलता अथवा विषमता का जो उल्लेखनीय है, वह बेबाकी से, किंतु एक लेखक की गरिमा के अनुरूप आत्मीय संस्मरणों के रूप में इस किताब में दर्ज है।

बलराम जहां जैनेंद्र की अंतर्मुखी निर्लिप्तता के कायल हैं, वहीं अज्ञेय का आभिजात्य सम्मोहन उनके लिए गुरुत्वाकर्षण है। कानपुर से दिल्ली बलराम अज्ञेय द्वारा लिए साक्षात्कार में खरे उतरने पर ही आते हैं। उनके आदमकद रूप में बलराम को ग्रीक देवता की झलक दिखती है। यह शायद अज्ञेय और भारती जैसे निरापद लेखक-संपादकों का ही प्रभाव था कि बलराम कमोबेश वैचारिक तटस्थता बनाए रखे। वे लिखते भी हैं, ''साहित्य में पसरी धड़ेबंदी और विचारधारागत मार-काट ने उर्वर हिंदी प्रदेश की जमीन को बंजर कर देने में कितनी और कैसी भूमिका निभाई, इस पर कोई चर्चा नहीं हुई, लेकिन साहित्य परिदृश्य पर छा गए बेगानेपन और कुहासे में कहीं न कहीं इस मार-काट का भी बड़ा हाथ रहा है। इससे हमारी भाषा ही नहीं, भाव तक दरिद्र हो गए।' बलराम का यह दर्द साफ करता है कि साहित्य में भेद की कितनी पक्षपातपूर्ण दुरावस्थाएं हैं। बकलम बलराम, 'दक्षिणपंथ अगर अज्ञेय से बेपनाह मोहब्बत करता है तो नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल को अपनी दहलीज पर पांव धरने तक से मना कर सकता है, लेकिन धीरे-धीरे प्रगति बनाम कला की शिविरबंदी शिथिल हो रही।

आत्मकथा अथवा संस्मरण भुगते जीवित पात्रों से रूबरू हुए यथार्थ को लेकर आगे बढ़ते हैं। भुगतने की इस लंबी प्रक्रिया में कई स्वजन के रूप में व्यवहृत होते हें, तो कई दुर्जन के रूप में और कई तात्कालिक स्वार्थसिद्धियों के वाहक बनते हैं। बलराम इस किताब में जिन लेखक-पत्रकारों की चरित्रजन्य विलक्षणताओं को क्रमशः आगे बढ़ाते हैं, वे सब साहित्य एवं पत्रकारिता के चिर-परिचित नाम हैं और इनमें नागार्जुन लेखक के सबसे अनन्य, आत्मीय व अतुलनीय पात्र है।

बाबा के साथ तिब्बत में घटा एक स्त्री-प्रसंग इस किताब में है, जिसके अनुसार, भयानक सर्द रात में एक तिब्बती महिला बाबा के साथ आ लेटी तो उनकी घिग्घी बंध गई। अगले दिन उस स्त्री से बाबा ने रातभर अपने साथ सोने का मकसद पूछा तो उसने बेझिझक बता दिया, 'इतनी कड़ी सर्दी में तुम्हें ओढ़ाने लायक कंबल-रजाई हमारे पास नहीं है। अगर तुम्हारे साथ न सोती तो तुम सुबह तक ठिठुरकर मर जाते। सो, तुम्हें अपने शरीर की गर्मी देकर सही-सलामत बनाए रखने के लिए तुम्हारे साथ सारी रात सोना पड़ा। सुनकर बाबा उसके औदार्य पर नतमस्तक हो गए।' बलराम के लेखकीय संयम की दाद देनी होगी कि उन्होंने पीढ़ीगत अंतराल की मर्यादा को कायम रखा। दिल्ली के गांव सादतपुर में बाबा से बलराम के संवाद के अनेक प्रसंग इस किताब में हैं, जिन सबका उल्लेख नामुमकिन है, लेकिन त्रिलोचन के पेटू होने का प्रसंग बेहद दिलचस्प है।

बलराम को जहां गुंजाइश दिखती है, वामपंथ और छद्‌म धर्मनिरपेक्षता पर चोट करते हैं। भीष्म साहनी के निधन के बाद उनके अंतिम संस्कार में आयोजित कर्मकांड को लेकर नामवर सिंह लिखते हैं, 'चिता सजी थी। चिरी लकड़ियों की शैया पर भीष्म लेटे थे। पितामह साहित्य के। इधर वेद मंत्रोच्चार और उधर पंक्तिबद्ध बौद्ध भिक्षुओं का समवेत मंत्र पाठ। गरज कि भीष्मजी के 'वांग्चू' भी इस मौके पर मौजूद थे। सेकुलर सज्जनों के लिए यह सब 'पिक्यूलियर' था। कुछ-कुछ धर्म संकट-सा। भीष्म साहनी की अंत्येष्टि में ऐसा धार्मिक अनुष्ठान!' इसके आगे बलराम साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' से एक प्रसंग उठाते हैं।

इस पूरी किताब में बलराम को ऐसा गिला-शिकवा किसी लेखक-पत्रकार से नहीं है, कि वे प्रतिकार लेने को उद्यत हो जाएं। राजेन्द्र माथुर और विष्णु खरे उनकी पदोन्नति में बाधक बनते हैं, इसके बावजूद वे उदार व निर्विकार बने रहते हैं। कर्तव्य पालन के चलते वे अपने बेटे का उचित इलाज नहीं करा पाते और वह चल बसता है। यह इस कथा का सुखद व दारुण प्रसंग है, जिसे वह सुरेन्द्रप्रताप सिंह के कहने पर आखिरकार सुलटा लेते हैं, जबकि नवभारत टाइम्स की यूनियन उनके साथ हुए अन्याय के परिप्रेक्ष्य में आंदोलन पर उतर आई थी। वे कथात्मक संस्मरण संपूर्ण आत्मकथा इसलिए भी नहीं हैं, क्योंकि इसमें उनका पूरा परिवार, प्रेमिका सलमा, पत्नी व बच्चे लगभग स्थगित हैं। मां की भूमिका पाजेबें बेचकर साइकिल दिलाने तक सीमित है, तो सलमा के एक अदद नाम भर की झलक है, उनकी आदमकद उपस्थिति कमोबेश विलुप्त है। यही स्थिति पत्नी व बच्चों की है। हां, लेखक, पत्रकार आलोचक खूब हैं। उनके कथन हैं। कृतियां हैं। शायद इसीलिए बलराम ने आरंभ में ही सहज निरपेक्ष-भाव से स्वीकार भी लिया है कि यह 'अपने बहाने औरों की कथा हैं।' औरों के लिए ही सही, इस किताब की अपनी साहित्यिक उपादेयता है, जिसे अर्से तक साहित्य एवं पत्रकारिता के हलकों में रेखांकित किया जाता रहेगा।

शब्दार्थ 49, श्रीराम कॉलोनी,

शिवपुरी, (मध्य प्रदेश)

बला की खूबसूरती है सोफिया में...

❑ *आनंदवर्धन*

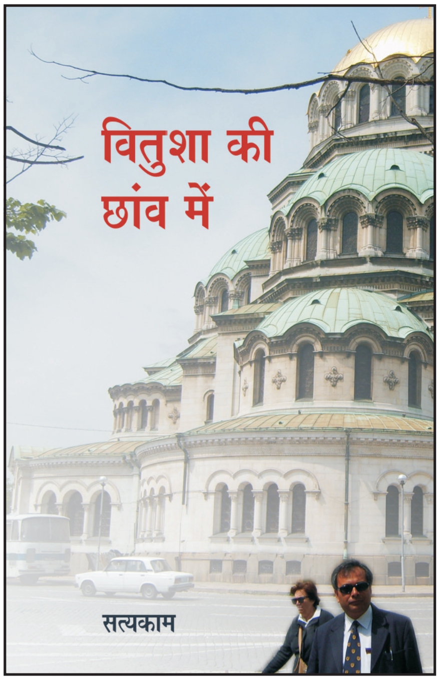

वितुशा की छांव में, ले. सत्यकाम,
प्र. सामयिक बुक्स
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 224, ₹ 360.00

''बला की खूबसूरती है सोफिया में। अभी तक कोई बदसूरत नजर नहीं आया, खासतौर पर महिलाएं। दफ्तरों में, विश्वविद्यालय में, अस्पताल में, दुकानों पर लड़कियां ही लड़कियां नजर आती हैं। माजरा क्या है? पूछने पर पता चला कि यहां स्त्री, पुरुष का अनुपात 2:1 है।''

कहानी की तरह है सत्यकाम जी द्वारा लिखित यह यात्रा विवरण। सत्यकाम जी सन् 2006 से 2008 तक यूरोप के छोटे, लेकिन बेहद सुंदर देश बल्गारिया में रहे विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में। उन्होंने अपने इस प्रवास को पूरी तरह जिया, जिसका प्रमाण है 'वितुशा की छांव में'। यह कृति यात्रा वृत्त, डायरी, रिपोर्ताज आदि का मिला-जुला रूप है। हिंदी गद्य की ये सब आधुनिक विधाएं हैं और इनमें लिखने वालों की संख्या कवियों या कथाकारों जैसी अपार नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि इन विधाओं में यदि बेहतर नहीं लिखा गया तो लेखक को पाठक सहज ही खारिज कर देगा।

सत्यकाम जी ने 'वितुशा की छांव में' के माध्यम से अपनी एक मुकम्मल उपस्थिति दर्ज कराई है। इस कृति को पढ़ते समय पाठक को सहज ही यह अहसास होने लगता है कि वह बल्गारिया की यात्रा में और प्रवास में लेखक का सहयात्री है। एक अनजाने देश की यात्रा करना और अपने अनुभवों को इस तरह कागज पर उतार देना कि पाठक को वह खुद के अनुभव लगने लगें, इस कला में सत्यकाम जी खरे उतरे हैं।

कृति के आरंभ में तिथिवार घटनाओं का उल्लेख है। बेहद निजी अनुभवों को लेखक बांटता चलता है और अपने वतन से दूर एक पराए देश की जमीन पर रहते हुए बार-बार नौस्टाल्जिक हो जाता है। यह अत्यंत स्वाभाविक है। उसे आधुनिकता के बीच अपने पिता भी याद आते हैं और बाबा भी, गांव भी याद आता है और खेत-खलिहान भी। वे जड़ें, जो उसकी अपनी हैं, उसका मन तो वहीं रमता है। ठीक राम की तरह। राम ने लक्ष्मण से कहा था—

''न ये रोचते लक्ष्मण, स्वर्णमयि अपि लंका
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयासि''

या बकौल इकबाल—

''गुरबत में हों अगर हम, रहता है दिल वतन में
समझो वहीं हमें भी दिल है जहां हमारा''

''मगर वहां तो लक्ष्मण भी नहीं है और प्रिया भी नहीं।'' प्रियाहीन तरपत मन मोरा।

निरंतर प्रियतमा (पत्नी) की याद करते हैं सत्यकाम। अकेले रहने का सुख-दुख लेखक पहली बार भोग रहा है। यह उन तमाम भारतीयों की कहानी है, जो किन्हीं वजहों से परदेस में हैं, पर प्रेम की इतनी तीव्रता। इसे लेखक ने छुपाने की कोशिश नहीं की है, साधुवाद।

मैं खुद बल्गारिया ढाई बरस से कुछ अधिक रहा हूं। धरती पर इतनी सुंदर जगहें भी हैं, विश्वास नहीं होता। सत्यकाम जी ने अपनी इस कृति में बल्गारिया की आबोहवा

से लेकर संस्कृति, जनजीवन, साहित्य और समाज को निकट से जानने की कोशिश की है। इस यात्रा में उनके तमाम सहयात्री बने हैं, सहकर्मी, दूतावास के कर्मचारी, विद्यार्थी और कुछ अन्य। उनके साथ बिताए दिन, रेगिस्तान में ओएसिस जैसे लगते होंगे। यह कृति एक अपरिचित देश बल्गारिया के नए परिवेश से तो परिचित कराती ही है, आस-पास के देशों जैसे ग्रीस, टर्की, ब्रिटेन और फ्रांस की छोटी यात्राएं भी करा देती है। ग्रीस यात्रा की एक बानगी देखिए।

''सिकंदर महान और उसकी भूमि यूनान के बारे में बचपन से सुनता आया था। सिकंदर और पोरस की लड़ाई के किस्से आज भी हर बच्चे को सुनाए जाते हैं। एक बड़ा लोकप्रिय गाना भी बना, 'सिकंदर ने पोरस से की थी लड़ाई...', 'जो जीता वही सिकंदर' ठेठ भारतीय मुहावरा हैं। सिकंदर और यूनान भारतीय इतिहास का हिस्सा और संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। यहां की कलाओं (गांधार कला) पर भी उसका प्रभाव देखा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' में भी सिकंदर के सेनानी सेल्यूकस का जिक्र आता है, जिसमें उसकी बेटी का विवाह चंद्रगुप्त से होने की बात की गई है...''

पढ़ते ही पाठक के मन में ग्रीस को जानने की जिज्ञासा बलवती हो जाती है। यात्रा विवरण में रोचकता बनाए रखकर सत्यकाम ने 'वितुशा की छांव में' को एक पठनीय संग्रह बना दिया है। कथा प्रवाह ऐसा कि आप पढ़ना तो शुरू कीजिए। जब-तक समाप्ति तक नहीं पहुंचेंगे, पुस्तक हाथ से छूटेगी नहीं, पर इसके लिए कवि हृदय होना पड़ेगा, 'अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग'।

यूनान के बाद मास्को और इस्तांबुल की सैर के वर्णन। योरोप का एक विहंगम परिदृश्य, उत्तर से लेकर दक्षिण तक। अल्प प्रवास में भी क्षणों को पकड़ने की महारत एक कुशल चितेरे को ही प्राप्त होती है। कैनवास पर जैसे चित्रकार बंधी सीमाओं में भी अनंत आकाश उकेर देता है, ठीक वैसे ही जन जीवन के चित्र पकड़ने और उन्हें शब्द चित्रों में अभिव्यक्त करने की कला सत्यकाम जी में दिखाई पड़ती है। इस्तांबुल का चित्रण करते हुए लेखक लिखता है, ''शहर को नदी के बीच से देखना अद्भुत लगता है। काले सागर के दोनों ओर इस्तांबुल बसा है, एक तरफ एशिया, दूसरी तरफ यूरोप। एशिया और यूरोप का यह संगम यहां के रहन-सहन, खान-पान और संस्कृति में रचा-बसा है। कमाल अतातुर्क को बार-बार सलाम करने को जी चाहता है।''

अपनी यात्राओं से बार-बार लेखक जहाज के पंछी की तरह बल्गारिया लौट-लौटकर आता है, लेकिन वहां भी उसकी यात्राएं जारी हैं, एलिन पेलिन का गांव बाइलोवो, ब्रात्सा, प्लोवदिव, वार्ना, कितनी ही जगहें, साथ ही हंगरी और मारीशस की यात्रा का जिक्र भी। बहुविध आनंद देने वाली कृति है 'वितुशा की छांव में।'

सत्यकाम जी ने अपने पूज्य पिता डॉ. गोपाल राय को बड़ी शिद्दत से इस पुस्तक में याद किया है और एक पूरा का पूरा अध्याय उन पर लिखा है। उन्होंने उनका व्यक्तित्व-कृतित्व 'बाबूजी को प्रणाम' में अंकित किया है। वे लिखते हैं :

''बाबूजी जिद्दी हैं। उनकी यही जिद उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।उनका जुनून अभी बाकी है और वे कार्यरत श्रमरत और साहित्यरत हैं।''

किसी पुत्र का पिता के लिए यह लिखना उनकी ईमानदारी और कर्म में रत रहने की प्रवृत्ति को दर्शाता है और उनके लेखन से स्वयं सत्यकाम ही नहीं, दूसरे भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

'वितुशा की छांव में' बसा हुआ है नगर सोफिया, जो बल्गारिया की राजधानी है। इसके एक ओर विशाल पर्वत है वितुशा, जिसकी छाया तले सोफिया बसा है। छह माह से भी अधिक समय तक इसकी उपत्यकाएं बर्फ से ढंकी रहती हैं और यह नगरवासियों और पर्यटकों के लिए सुंदर पिकनिक स्थल है और स्कीइंग के लिए विख्यात भी। सोफिया के केंद्र में ही है अलेक्जेंडर नेवेस्की कैथेड्रल, जो रूसी सैनिकों की स्मृति में बना।

बल्गारिया ने भी तुर्कियों का दमन झेला है और लंबे संघर्ष के बाद अपना एक विशिष्ट स्वरूप निर्मित किया है। वहां के गुलाब और अंगूर विश्वप्रसिद्ध हैं और इत्र तथा वाइन भी।

सत्यकाम ने इन सबको देखा, निहारा, इनमें रचे भी और बसे भी। पुस्तक के प्राक्कथन में वे लिखते हैं, ''डायरी, संस्मरण, रिपोर्ताज, निबंध और लेख आदि का एक कोलाज बना है, कैसा बना है, क्या बना है, मैं तो नहीं बता सकता।''

जरूरत ही नहीं बताने की। जो है, खूबसूरत है, दिलचस्प है, आकर्षक है। पुस्तक के विवरण, विवरण नहीं हैं। वे दृश्यांकन है, सिनेमा की तरह संगीत से आबद्ध, वितुशा की छांव में पले-बढ़े।

पुस्तक का अंतिम अध्याय मारीशस की यात्रा पर आधारित है। लोग अपनी मिट्टी से कितनी दूर क्यों न चले जाएं, मिट्टी की महक से दूर नहीं हो सकते। उसके गीतों की गूंज उनके मन-दिमाग में बनी रहती है। तभी तो मन के तार झंकृत हो जाते हैं यह सुनकर—

निर्मल रतिया इंजोर हो बाबा
अरे बर तरे खेलहु न पइन हो बाबा बर तरे।

(निर्मल रात चांदनी से प्रकाशित हो रही है, लेकिन बाबा मैं बरगद के पेड़ के नीचे खेल नहीं पा रही हूं)

'वितुशा की छांव में' यात्रा करने वाले पथिक पाठकों के लिए शीतल विश्राम स्थल है।

निदेशक, एकेडमिक स्टाफ कॉलेज,
बी.एच.यू. वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

सांस्कृतिक टकरावों का स्मृत्याख्यान

❑ त्रिभुवन राय

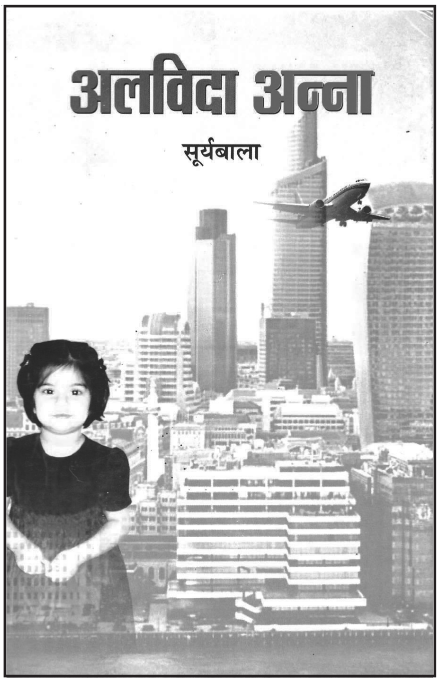

अलविदा अन्ना, ले. सूर्यबाला,
प्र. प्रतिभा प्रतिष्ठान
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2013, पृ.सं. 128, ₹ 150.00

डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण और स्मृति कथा के सम्मिश्रित रूप में 'अलविदा अन्ना' सूर्यबाला की विदेशी, मुख्यतया अमेरिका यात्राओं एवं महीनों के प्रवास के दौरान निर्मम तटस्थता की आंच में अंत-साक्षात्कृत बिंबों का ऐसा स्मृत्याख्यान है कि उससे गुजरते हुए किसी भी प्रबुद्ध पाठक के लिए पश्चिम अथवा पूरब के साथ आंख बंद करके खड़ा हो पाना मुश्किल हो जाता है।

पश्चिमी दुनिया, विशेषकर अमेरिका संपन्नता के शिखर पर है। भौतिक उपलब्धियों के चरम पर स्थित उसकी चकाचौंध भारत की प्रतिभाशाली युवा पीढ़ी के लिए आकर्षण का इस कदर केंद्र बनी हुई है कि मौका मिलते ही वह वहां बसेरा बनाने की फिराक में उत्सुक रहती है। जाहिर है, उसके पीछे मातृ-पितृ पीढ़ी के लोग वहां पहुंचेंगे ही, लेकिन वहां पहुंचने पर अपनों से अलगाव और अजनबीपन के दर्द का जो तीखा दंश झेलना पड़ता है, उसे भुक्तभोगी ही समझ सकता है। त्रिशंकु की सी स्थिति में जीना कितना कठिन होता है, इसे सभी जानते हैं; फिर भी वहां पहुंचनेवाला चाहकर भी कहां लौट पाता है? 'अलविदा अन्ना' के विभिन्न प्रकरणों में लेखिका ने गहरी संवेदना और प्रखर विचार बोध के साथ सांस्कृतिक टकरावों से उपजे इसी दर्द को शब्द देने का उपक्रम किया है।

सांस्कृतिक टकराव का लेखिका को अपना पहला और तीखा अहसास तब होता है, जब पुत्रवधू डॉ. निधि के इंटरव्यू कक्ष में जाने पर पांच महीने की अनिंदिता चीख-चीखकर हड़कंप मचाने लगती है। अमेरिकी धरती पर जहां बच्चों का सार्वजनिक स्थानों पर तेज रोना गंवारपन का प्रतीक माना जाता है; हॉस्पिटल के निस्तब्धता की हद तक के उस सन्नाटे भरे शांत माहौल में जगहँसाई की चिंता से उपजी झेंप और खिसियाहट का दंश बेटे के साथ लेखिका को भी भीतर तक बेध जाता है, पर दूसरे ही पल उनकी स्नाब संस्कृति के बरक्स भावनात्मक जुड़ाववाली भारतीय संस्कृति के चेतन प्रतिरोध का भाव उनके भीतर सिर उठाए बिना नहीं रहता। हमारी संस्कृति में बच्चों को बलात सुलाए और चुपाए रखने के लिए स्लीपिंग बैग और पेसीफायर से चौबीसों घंटे सज्जित रहना जरूरी नहीं। यहां तो मां, दादी और दादा आदि की आत्मीय थपकियां और लोरियां ही मनोवांछित परिणाम दे जाती हैं, लेकिन जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से सुरक्षित दूरी बनाए रखने में विश्वास करता है, वहां शिशुपन को भी अगर माता-पिता से अलग रखने की कोशिश की जाती है तो भला अस्वाभाविक क्यों?

पश्चिम की उपभोक्तावादी मॉल संस्कृति के जगमगाते मायाजाल, जिसने आदमी को खरीददार में तब्दील कर दिया है, जिससे बचकर निकल पाना बेहद कठिन है, का सामना होने पर लेखिका को तब गहरा धक्का लगता है, जब वह देखती है कि जूस, दूध, आइस्क्रीम आदि तो आम-आदमी की क्रय-शक्ति के भीतर हैं, पर पेट्रोल दूध से भी सस्ता है। इस बिंदु पर अमेरिका की आटोमोबाइल लॉबी के दबदबे का वह सच भी उघड़कर सामने आ जाता है, जो सरकारी तंत्र और व्यवस्था को भी घुटने टेकने के लिए मजबूर किए रहता है।

भौतिकता प्रधान चरम व्यक्तिवादी सभ्यता की छाया में वहां व्यक्ति जरूर मिलते हैं, पर लोगों का तो वहां जैसे अकाल ही है। वहां कारें, पार्क हैं, हरे-भरे विस्तृत मैदान हैं और

घरौंदों से खूबसूरत मकान भी मिल जाएंगे, पर उनमें लोग नहीं मिलेंगे। देह का छीजना अनिवार्य एवं अपरिहार्य सत्य है, बावजूद इसके शरीरगत सौंदर्य ही उनके लिए सब कुछ है। उसके भीतर किसी चेतन आत्मतत्व की अवस्थिति है, इसकी न उन्हें कोई चिंता है, न ही उसमें निहित व्यापक सौंदर्य का कोई अवबोध है। फिर भी शरीर के रख-रखाव के प्रति उनकी आत्यंतिक सतर्कता के मूल में निहित कारणों की छानबीन करते हुए वह इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रहती कि 'उन्हें जीवन की क्षण भंगुरता से संबंधों की क्षण-भंगुरता अधिक सताती है।' इसीलिए वृद्ध स्त्री-पुरुष के बेतुकेपन की हद तक की साज-सज्जा उनके भीतर कोई अचरज नहीं पैदा करती।

सांस्कृतिक मुठभेड़ की दिलचस्प स्थितियां यहां अन्ना के सामीप्य में उभरती दीख पड़ती हैं। अन्ना (अनिंदिता) अब चार साल की हो गई है। वह जितनी हिन्दुस्तानी है, उससे कम अमेरिकन नहीं। इसलिए उससे ठेठ हिन्दुस्तानी बच्चे की तरह के व्यवहार की उम्मीद करना निरी बेवकूफ होगी। अगर उसके दादा-दादी पुअर डॉगी (स्ट्रिप क्लिफर्ड कार्टून) पर बरबस हँस पड़ते हैं तो उन्हें 'दैट्स नॉट फनी' की झिड़की सुननी ही पड़ेगी। इस पर ध्यान न देने पर 'हे गाइज! दैट्स नॉट फनी' की बच्ची की ओर से सख्त फटकार भी मिलेगी। स्थितियों को देख-समझकर लेखिका को यह महसूस करते देर नहीं लगती कि अन्ना की वाजिब बातों को तरजीह देकर, अपनी गलतियों (जो उसकी दृष्टि में हैं) को कबूल करके ही उसे अपने रंग में रंगा जा सकता है। फिर जब बड़े अपने लिए स्पेस और सुविधा चाहते हैं, तब बच्चे ऐसा क्यों न चाहें? इसलिए अगली बार हँसने पर जब अन्ना उन्हें टोकती है, तब तुरंत सॉरी कहकर उसे संतुष्ट कर देती हैं, लेकिन थोड़ी देर बाद 'जब हम हँसते हैं, स्माइल करते हैं, तब बहुत प्रीटी दिखते हैं' कहने पर विस्मय से उसे अपनी ओर देखते हुए पाकर उसका चेहरा कबर्ड पर लगे शीशे की ओर घुमाकर वह कहती हैं, तुम खुद स्माइल कर देख लो, तुम कितनी प्रीटी लगती हो और शर्माते हुए बस हँस देती है। लेखिका का यह एक्शन इतना कारगर होता है कि अगले दिन वह अपने टीचर से भी यह बताए बिना नहीं रहती। इस कामयाबी के बाद 65 साल की लेखिका दादी अन्ना के खेल की पार्टनर, उसके नाटकों की पात्र बनकर उसे इस तरह आकर्षित करती है कि हैली और एन जैसी सहेलियों को भी वह दादी-दादा को नमस्ते करने की सीख देने लगती है। उनकी संगत में वह भारतीय चुटकुलों को समझती ही नहीं, उन पर मजे लेकर हँसती भी है। वह दादी से लोरियां भी सुनती है और कहानियां भी। उसको सुनाई जानेवाली कहानियों का सिलसिला रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, अरेबियन नाइट, हातिमताई से शुरू होकर ईदगाह (प्रेमचंद), हार की जीत (सुदर्शन) तक चलता है। जरूरत के मुताबिक उनमें जोड़-घटाव भी होता है। 'हाउ क्यूट', 'हाउ स्वीट' कहती लेखिका अमेरिकी एटीकेट में भारतीय शिष्टाचार का कॉकटेल पेश करना भी नहीं भूलती। चीजों की अज्ञानता के दो टूक स्वीकार के महत्त्व को भी वह भलीभांति समझती हैं। इस प्रकार अपनी सांस्कृतिक विरासत के रसात्मक द्रव से पोती को सिंचित कर लौटने का संतोष लेखिका के कदमों को सहज ही बल दे जाता है।

अमेरिकी शिष्टाचार की एक परत लेखिका के सामने कोलंबिया विश्वविद्यालय की अपनी मेजबान प्रतिष्ठित कथा लेखिका सुषम बेदी के घर तब सामने आती है, जब तकल्लुफ और बेतकल्लुफी का एक साथ सामना होता है। यहां व्यक्ति के घर में जो कुछ उसके पास है, उसमें से जो भी और जब भी आपको चाहिए, बिना किसी तकल्लुफ के लेने के लिए आप आजाद हैं, लेकिन आत्मीयता और अनौपचारिकता के हवाले उसकी व्यस्त दिनचर्या में खलल डालना मेजबान को परेशान ही अधिक करता है। हां, विश्वविद्यालय का अनौपचारिक माहौल लेखिका को आह्लादकारी आश्वस्ति अवश्य देता है। छात्रों के बीच की सहज निर्द्वंद्वता उन्हें प्रभावित करती है। 'अजीबो-गरीब तरह के पहनावों-ओढ़ावों पर न वहां कोई टीका टिप्पणी थी, न कटाक्ष भरी मुस्कराहटें, सबके लिए सुविधाजनक-सा वातावरण' और सबसे बड़ी बात यह है कि सभी दायित्व को महसूस करते हुए से दीख रहे थे।

विद्यार्थियों से अनौपचारिक रूप से मिलते हुए उनकी जिज्ञासु दृष्टि का फैलाव और विमर्श की क्षमता लेखिका को प्रभावित ही नहीं, चकित भी करती है। साहित्य को समझने की उनकी कोशिश और उसको विश्लेषित करने का उनका तरीका आश्वस्ति देता है।

प्रकृति के प्रति उनका सम्मोहन भरा प्रेम, अपनी विरासत के प्रति गहरा लगाव भी लेखिका को अपने लोगों के पाखंड की याद दिलाता है। हम पहाड़ों और वृक्षों की पूजा का आडंबर जरूर रचते हैं, पर उनके रख-रखाव की चिंता नहीं करते। शायद उनका यह बोध कि आत्मकेन्द्रियता में डूबे उदास मन के लिए प्रकृति के अलावा दूसरी स्थली नहीं, उन्हें प्रकृति को इतनी निकटता से प्रेम करने के लिए प्रेरित करता है।

किंतु मनुष्य को मनुष्य से अलगाने वाली सभ्यता के प्रति लेखिका अपने दर्द को नहीं छिपा पातीं। उनकी साड़ी पर नजर पड़ने पर अफ्रीकी टैक्सीवाले के सवाल 'फ्रॉम इंडिया?' पर सुषम बेदी की सहायिका मीनल जिस तरह से 'याऽऽ' कहकर उसे चुप रहने का संकेत देती है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली संस्कृति में पली-पुसी लेखिका का हतप्रभ होना स्वाभाविक है। उन्हें कोफ्त होती है उस आचार संहिता पर जो आदमी को उसके रंग के आधार पर व्यवहार करना सिखलाती है।

इस प्रकार विचार, संवेदना और संतुलित दृष्टि के तहत पुस्तक के विभिन्न प्रकरणों में लेखिका ने पश्चिम के सिरमौर अमेरिका के अंत-प्रदेशों के यथार्थ को साफगोई से उद्घाटित एवं प्रस्तुत करने के साथ अपनी ओर झांकने की जिस जरूरत को रेखांकित किया है, वह सहृदय पाठकों को सचेत तो करती ही है; अवबोध की नई दिशा भी उन्मीलित करती है, इसमें संदेह नहीं।

सेक्सरिया कम्पाउंड, मुम्बई (महाराष्ट्र)

पत्रकारिता के विविध आयाम

❑ *कृष्णचंद्र लाल*

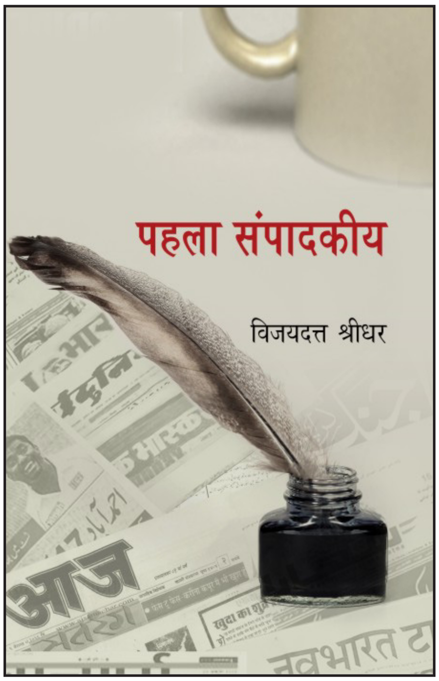

पहला संपादकीय, सं. विजयदत्त श्रीधर,
प्र. सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2011, पृ.सं. 208, ₹ 300.00

हिंदी पत्रकारिता से एक लम्बे अर्से से जुड़े श्री विजयदत्त श्रीधर ने हिंदी की महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं के पहले संपादकीय का संकलन करके 'पहला संपादकीय' नामक जो पुस्तक प्रकाशित की है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, वह कई दृष्टियों से संग्रहणीय और अध्ययन करने योग्य है।

इस पुस्तक में जिन पत्र-पत्रिकाओं का पहला संपादकीय संग्रहीत है, उनके नाम हैं—उदंत मार्तंड (30 मई, 1826), बंगदूत (10 मई, 1829), भारत मित्र (17 मई, 1878), उचित वक्ता (7 अगस्त, 1880), सरस्वती (जनवरी, 1900), देवनागर, (मई, 1907), अभ्युदय (फरवरी, 1907), प्रभात (9 नवंबर, 1913), आज (5 सितंबर, 1920), कर्मवीर (4 अप्रैल, 1925), विशाल भारत (जनवरी, 1928), नवयुग (सितंबर, 1928), हंस (मार्च, 1930), नारी (अगस्त, 1947), नयी धारा (अप्रैल, 1950), नया प्रतीक (दिसंबर, 1973), जनसत्ता (17 नवंबर, 1983), प्रभात खबर (22 अक्टूबर, 1989), नया ज्ञानोदय (फरवरी, 2003), अहा! जिंदगी (सितंबर, 2004)। इस तरह इसमें 20 पत्र-पत्रिकाओं के अग्रलेखों को संकलित किया गया है। अग्रलेखों के चयन के बारे में केवल इतना कहा गया है कि ये उल्लेखनीय पत्र-पत्रिकाओं से लिए गए हैं। संपादक ने लिखा है—'पहला संपादकीय पुस्तक' में सन् 1826 से सन् 2004 के बीच की अवधि के 20 अग्रलेखों का संचयन किया गया है। दो अग्रलेख हिंदी पत्रकारिता के उद्‌भव काल के हैं—उदन्त मार्तंड और बंगदूत। दो अग्रलेख आजादी की पहली लड़ाई के बाद के दौर के हैं। भारत मित्र और उचित वक्ता। दस अग्रलेख बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध—(सरस्वती, देवनागर, अभ्युदय, प्रताप, आज, कर्मवीर, विशाल भारत, नवयुग, हंस, नारी) से चुने गए हैं। छह अग्रलेख स्वतंत्रता के बाद के वर्षों के हैं। जिन पत्र-पत्रिकाओं से इन अग्रलेखों का संचयन किया गया है, वे अपने कालखंड और तत्कालीन पत्रकारिता प्रवृत्तियों और सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं।' स्पष्ट है कि इन अग्रलेखों से हिंदी पत्रकारिता के अभ्युदय और विकास को समझना किसी के लिए भी सुगम है। इन अग्रलेखों से पत्र-पत्रिकाओं की भाषा, शैली, सोच, जीवन-दृष्टि, राष्ट्रीयता, युगधर्म, युग-दशा आदि की अच्छी जानकारी मिल जाती है। महत्त्वपूर्ण यह है कि इन अग्रलेखों से पत्रकारिता के उद्‌देश्यों और उसकी आवश्यकता एवं महत्ता को भी असानी से जाना जा सकता है। संकलित अग्रलेखों का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता अपने उद्‌देश्य को उत्तरोत्तर व्यापक करती गई और स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान तो उसने बड़ी अहम भूमिका निभाई।

जैसे-जैसे समय बदलता गया, नयी परिस्थितियां पैदा होती गईं, वैसे-वैसे युग की, समाज की आवश्यकताएं भी बदलती गईं और पत्रकारिता के उद्‌देश्यों में भी नए-नए कर्तव्य और आदर्श सम्मिलित होते गए। इन तथ्यों को संकलित अग्रलेखों से अच्छी तरह समझा जा सकता है और

हिंदी पत्रकारिता के बदलते स्वरूप, तेवर और दृष्टि को भी जाना जा सकता है।

पहला संपादकीय के साथ-साथ पुस्तक में 'विमर्श' के अंतर्गत सात ऐसे लेख भी सम्मिलित किए गए हैं, जिनसे पत्रकारिता के उद्देश्य, कर्तव्य और आदर्श को भी समझा जा सकता है। ये लेख हैं 'पत्रकारिता' (रामानंद चट्टोपाध्याय) समाचारपत्र और लोकमत (इन्द्रवाचस्पति), संपादक (इन्द्रवाचस्पति), समाचारपत्रों का आदर्श (बाबूराव विष्णु पराड़कर), पत्रकार : मानस और दायित्व (माखनलाल चतुर्वेदी), पत्रकारिता क्या और कैसे (गणेश शंकर विद्यार्थी), समाज और प्रेस (आचार्य नरेन्द्र देव)। इन लेखों का महत्त्व बताते हुए संपादक ने लिखा है, ''इन मूर्धन्य संपादकों ने पत्रकारिता की भूमिका, उनके मान-मूल्य, मर्यादा और आदर्श को अपने कृतित्व में साक्षात किया है।'' वास्तव में ये लेख अग्रलेखों की ही तरह काफी महत्त्वपूर्ण और विचार-समृद्ध हैं। इनसे पत्रकारों/संपादकों के जुझारू व्यक्तित्व और उत्कट लोकहित का पता चलता है। इनसे नयी पीढ़ी सत्प्रेरणा लेकर पत्रकारिता को और ऊंचाई एवं गरिमा प्रदान कर सकती है। निश्चय ही यह पुस्तक केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज ही नहीं, एक प्रेरणादायी ग्रंथ है। इसके लिए संपादक बधाई का पात्र है और उम्मीद की जा सकती है कि उसके सत्प्रयत्नों से कुछ और महत्त्वपूर्ण संपादकीय और लेख संकलित होकर नयी पीढ़ी को ऊर्जा और प्रेरणा देने के लिए प्रकाश में आ जाएंगे। अपनी धरोहर को सहेजना एक पुनीत कार्य है।

समय के साथ

निशिकांत ठाकुर एक प्रतिभाशाली, निर्भीक और निष्पक्ष पत्रकार हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ''प्रत्येक सजग नागरिक का दायित्व है कि वह अपने समय के साथ रहते हुए उसे शिद्दत से महसूस करे और उन तत्त्वों से टकराए, जो अपने समय और

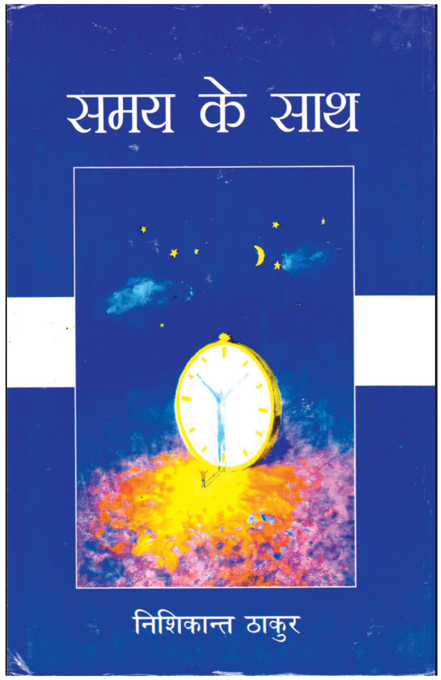

समय के साथ, ले. निशिकांत ठाकुर,
प्र. इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
कृष्णा नगर, दिल्ली-110051
प्र.सं. 2010, पृ.सं. 192, ₹ 300.00

समाज को विद्रूप करने की नापाक कोशिशें कर रहे हैं, खासकर जो लोग पढ़ने-लिखने में दिलचस्पी रखते हैं, उनके लिए तो यह और भी जरूरी है कि वे अपने समय की धड़कनों को न सिर्फ गहराई से महसूस करें, बल्कि उसमें हस्तक्षेप भी करें। जो लेखक ऐसा नहीं करता, वह चाहे कितना भी अच्छा लेखक क्यों न हो, अपने समय के प्रति ईमानदार नहीं है।''

एक सजग पत्रकार की विशेषता यह होती है कि वह अपने समय और समाज को बड़ी सतर्क दृष्टि से देखता और परखता है और जहां उसे कुछ गलत या अनुचित लगता है, उसका सार्थक विरोध करता है, किसी राजनेता की तरह विरोध के लिए विरोध नहीं करता है।

'समय के साथ' पुस्तक में निशिकान्त ठाकुर के विचार-प्रधान लेख संकलित हैं जिनकी संख्या साठ है। लेख 'दैनिक जागरण' अखबार में सन् 2006 से 2009 तक 'दृष्टिकोण' कालम के अंतर्गत नियमित रूप से प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि 'इन लेखों का संबंध आम जनता के दुःख-दर्द से है।' इस सत्य का पता उनके कुछ लेखों के शीर्षकों से ही चल जाता है यथा—'आम आदमी के लिए', 'वोट की कीमत', 'नागरिक जिम्मेदारी का सवाल', 'लोकतंत्र की अग्निपरीक्षा', 'कृषि विकास का सच', 'बदलना होगा नजरिया', 'दहशतगर्दों का मजहब नहीं', 'सार्वजनिक स्वच्छता का संकट', 'भुखमरी का संकट', 'बाढ़ और राहत की हकीकत', 'विकास का मसला', 'आतंकवाद का मूल', 'रेल की सुरक्षा का सवाल', 'माता-पिता की सजगता जरूरी', 'जनहित के विरुद्ध राजनीति', 'शिक्षा व्यवस्था का द्वंद्व', 'नक्सलवाद का बीज', 'रोजगार गारंटी की जरूरत' आदि। कहना न होगा कि निशिकान्त ठाकुर ने अपने लेखों में अपने समय और समाज के यथार्थ से टकराते हुए जिन समस्याओं का साक्षात्कार किया है, उनके बारे में अपने 'दृष्टिकोण' को पूरी ईमानदारी और निष्पक्षता के साथ व्यक्त किया है। उन्होंने गलत बातों के लिए जनता, नेता, सरकार आदि सबकी निर्भीक आलोचना की है और सुझावों को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। राजनीति, शिक्षा, घर-परिवार, आतंकवाद, आरक्षण, चिकित्सा, विकास, भ्रष्टाचार, अपहरण, चुनाव आदि पर उन्होंने बेबाक टिप्पणियां की हैं, कठोर शब्दों में भी आलोचना की है और विनम्रता के साथ अपने सुझावों को प्रस्तुत भी किया है। वे देश के विकास, विकास-गति और उसकी दशा और दिशा से बहुत संतुष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि सारा विकास एकांगी हुआ है।

निशिकान्त ठाकुर की यह पुस्तक विचार-प्रधान ऐसे लेखों का संकलन है जिससे हमें अपने समय के यथार्थ को ठीक ढंग से समझने में मदद मिलती है।

डी-55, सूरजकुंड कालोनी,
गोरखपुर-273015 (उ.प्र.)

तुलसीदास की कविता और कला का विवेचन

❑ *रेवतीरमण*

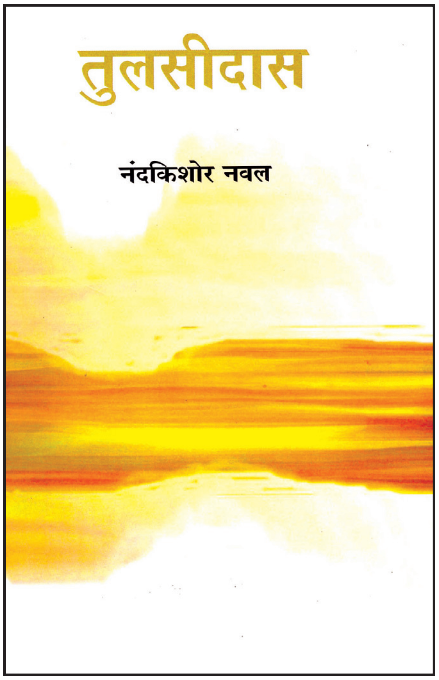

तुलसीदास, ले. नन्द किशोर नवल,
प्र. राजकमल प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2011, पृ.सं. 152, ₹ 200.00

नन्द किशोर नवल की एक महत्त्वपूर्ण आलोचना-कृति आई है—तुलसीदास। इसमें विशेष रूप से 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' पर विचार हुआ है। 'मानस' गोस्वामी जी की प्रमुख और सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है और 'विनय पत्रिका' उनके समन्वय-दर्शन की उपलब्धि। नवल जी ने इन कृतियों का पूरे मनोयोग से अध्ययन किया है। 'रामचरितमानस' की रचना 1574 ई. में हुई और 'विनय पत्रिका' की 1601 ई. में। संवत् 1680 अर्थात् 1623 ई. में गोस्वामी जी का देहान्त हुआ।

नवलजी ने इधर 'निराला' और 'मैथिलीशरण गुप्त' पर भी विस्तार से लिखा है। वे जब लिखते हैं तो कृति या सर्जक से संबद्ध सुदीर्घ आलोचना-प्रक्रिया से विवाद-संवाद करते हुए नए निष्कर्ष तक पहुंचते हैं, विशेष रूप से कृति-केन्द्रित उनका पाठ प्रभावशाली हो न हो, प्रामाणिक अवश्य होता है। आलोच्य पुस्तक में, तुलसी विशेषज्ञों के साक्ष्य पर नवलजी मानते हैं कि उनकी बारह कृतियां प्रामाणिक हैं। यथा—1. रामलला नहछू, 2. रामाज्ञाप्रश्न, 3. जानकी मंगल, 4. रामचरित मानस, 5. पार्वती मंगल, 6. गीतावली, 7. विनय पत्रिका, 8. कृष्ण गीतावली, 9. बरवै रामायण, 10. दोहावली, 11. कवितावली और 12. हनुमान बाहुक। इनमें रचनाकाल सिर्फ तीन का निर्धारित है—रामाज्ञा प्रश्न, रामचरितमानस और पार्वती मंगल।

'रामलला नहछू (1559) तुलसीदास की पहली रचना है।' नवल जी की आलोचना दृष्टि में यह उल्लेखनीय कृति नहीं है। इसमें केवल बीस छंद हैं। बीस मात्राओं में 'हसंगति' छंद में 'हो' के रूप में दो मात्राएं जोड़कर कवि ने इसे लोकगीत का रूप दिया है। नवल जी इसे 'काव्य गुण से रहित' कहते हैं। लिखते हैं—रामलला नहछू' में कहीं भी हमें एक महाकवि के आगमन की पगचाप सुनाई नहीं देती। (पृ. 17)

'रामाज्ञा प्रश्न' (1564) गोस्वामी जी की दूसरी कृति है, 'शकुन-विचार की पद्धति पर। यह सात सर्गों में विभक्त है और प्रत्येक सर्ग सात सप्तकों में। इसे दोहा छंद में लिखा है। विषय राम-कथा है। अंतिम सर्ग शकुन-विचार है। इसमें 'शंबूक वध और सीता-वनवास के प्रसंग आते हैं।' नवल जी की दृष्टि में, इसमें तुलसी की काव्य-क्षमता की परिपक्वता के दर्शन होते हैं।

'बरवै रामायण' की रचना संभवतः अब्दुर्रहीम खानखाना की रचना 'बरवै नायिका भेद' से प्रेरित होकर की गई है। यह भी राम-कथा है। 'मानस' की तरह सात कांडों में विभाजित है। किष्किन्धा कांड में सिर्फ दो छंद हैं और लंका कांड में सिर्फ एक छंद। 'सरल कवित्त कीरति विमल' के आदर्श से परिचालित तुलसीदास की यह कृति भी कम लोकप्रिय नहीं है। इसमें एक सरल कवित्त का उदाहरण है—

सुमिरहु नाम राम कर, सेवहु साधु।
तुलसी उतरि जाहु भव उदधि अगाधु।।

'रामलला नहछू', 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'बरवै रामायण' भी नवल जी की दृष्टि में एक तरह से खंड-काव्य ही हैं, लेकिन 'इनमें खंड-काव्य के शिल्प-विधान का कोई सौंदर्य नहीं है।' तुलसी की इन कृतियों की तुलना में 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 'ये दोनों वस्तुतः अत्यन्त मनोहर खंड-काव्य हैं, जिनमें क्रमशः सीता और पार्वती के विवाह का वर्णन है।' इन दोनों काव्यों में 'हंसगति' छंद का ही प्रयोग हुआ है।' (तुलसीदास, पृ. 23) कुछ लोग इसे 'मंगल छंद' भी कहते हैं, लेकिन नवल जी की मानें तो 'मंगल' नामक कोई छंद नहीं, वह हंसगति छंद ही है। इन दोनों काव्यों में तुलसीदास के प्रिय छंद 'हरिगीतिका' का भी प्रयोग हुआ है।

प्रसंगवश, नवल जी ने तुलसीदास की प्रसंग-संपादन कला पर भी विचार किया है। कालिदास के 'कुमारसंभव' में पार्वती और शिव का परिणय-प्रसंग व्यापक है। उसमें तारकासुर द्वारा स्वर्ग पर कब्जा कर लेने के उपरान्त देव-देवांगनाओं के उत्पीड़न का वर्णन है, साथ ही मदन-दहन का भी, लेकिन तुलसीदास 'पार्वती मंगल में केवल पार्वती और शिव के परिणय का ही वर्णन करते हैं।' इससे कालिदास और तुलसीदास की जीवन-दृष्टि और काव्य-दृष्टि में फर्क समझा जा सकता है। कालिदास भारतीय संस्कृति और सौंदर्य के कवि हैं—कविता कुलगुरु। तुलसीदास मध्यकालीन भारत के लोकनायक और मर्यादावादी। 'वे मूलतः भक्त थे, इसलिए अपने परवर्ती काव्य में उन्होंने शृंगार का असंयत वर्णन नहीं किया।' (पृ. 26)

कहना न होगा कि 'तुलसीदास' जैसी आलोचना-कृति में ऐसे प्रसंग विशेष हैं, जहां सौंदर्य-चित्रों का लोकरंजक विवेचन होता है। नवल जी एक भावुक भक्त की तरह नहीं, एक सौन्दर्य-विश्लेषक-समीक्षक की भाषा में तुलसीदास का मूल्यांकन करते हैं।

'गीतावली' (1601) को नवलजी तुलसीदास की एक बुद्धि-प्रसूत रचना मानते हैं। यही हाल 'कृष्ण गीतावली' का भी है। 'कवितावली' और 'हनुमान बाहुक' की रचनावधि वही है जो 'बरवै रामायण' और 'दोहावली' की, किंतु 'कवितावली' श्रेष्ठतर है। यह 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के साथ तुलसीदास जी की तीसरी श्रेष्ठ और लोकप्रिय कृति है।' (पृ. 42) नवल जी का अनुमान है कि 'कवितावली' का मूल नाम 'कबित्तावली' रहा होगा। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के साक्ष्य पर प्राचीन काल में सवैया, कवित्त और छप्पय, इन तीनों छंदों को 'कवित' ही कहा जाता था।

'कवितावली' का सबसे बड़ा कांड उत्तरकांड है, उसका आधा भाग छेंकता है। इसमें राम की महिमा गाने के अतिरिक्त तुलसीदास जी अपने बारे में भी लिखते हैं। नवल जी ने 'कवितावली' के उत्तर-कांड में वर्णित तुलसी के आत्म-वृत्त का मार्मिक विवेचन किया है।

आलोच्य पुस्तक में तीन बड़े अध्याय हैं। दूसरा और तीसरा क्रमशः 'रामचरित-मानस' और 'विनय पत्रिका' पर केंद्रित है। मानस को लेकर मार्क्सवादी समझ के दो स्पष्ट शिविर हैं। नवलजी ने बीच का रास्ता निकाला है। 'मानस की अंतरंग भावधारा भक्ति ही है, जिसे समझे बगैर तुलसीदास की क्रांतिकारिता को नहीं समझा जा सकता।' (पृ. 66) नवल जी की प्रतीति है कि तुलसीदास ने मानस में रामकथा की प्रस्तुति के लिए एक प्रारूप बना रखा था। मानस वस्तुतः 'उस प्रारूप का कार्यान्वयन है।' अलंकार-योजना की दृष्टि से मानस कल्पवृक्ष है। 'रामचरित मानस' पर केंद्रित अपने व्यवस्थित और सुचिंतित निबंध का समापन नवल जी ने पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के कथन से किया है। 'उग्र' ने कहा था—'मैंने ढेर का ढेर सारा श्रेष्ठ साहित्य नहीं पढ़ा, लेकिन मुझे उसका अफसोस नहीं है, क्योंकि मैंने रामचरितमानस पढ़ा है।' (पृ. 128)

नवल जी ने 'रामचरितमानस' का मूल्यांकन साहित्य के धरातल पर किया है। इसमें उनकी आलोचना-प्रक्रिया सर्जनात्मक है। उन्होंने अपने लेख को शास्त्रीय होने से बचाया है, इसका यह अर्थ नहीं कि उनका मानस का मूल्यांकन शास्त्र के प्रति अनवधान है। वस्तुतः उन्होंने ग्रियर्सन, रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास शर्मा की तुलसीदास से संबद्ध आलोचना-प्रक्रिया को आगे बढ़ाया है। यह गंभीर शब्द-मीमांसा भी है। मानस की पंक्तियों की अर्थ-निष्पत्ति में नवल जी समर्थ भाष्यकारों से होड़ लेते हैं।

इस किताब का तीसरा और अंतिम लेख 'विनय पत्रिका' है, जिसका पहला ही वाक्य है—'विनय पत्रिका (1601 ई.) का पहला नाम रामगीतावली था, जिसके पदों की संख्या काफी कम थी।' आगे कवि ने अच्छी संख्या में नए पद जोड़कर उसे 'विनय पत्रिका' का नाम और रूप दिया। यह 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' से अधिक समर्थ रचना है। यह केवल बुद्धि-प्रसूत नहीं, 'इसके पदों में गहरी हार्दिकता है।' इसमें शब्द मोती की तरह हैं और वाक्य मोती की लड़ियों की तरह।' (पृ. 129) तुलसीदास की प्रबंध-प्रतिभा मानस में उत्कर्ष पर पहुंच जाती है तो मुक्तक-प्रतिभा शिखर पर पहुंचती है, 'विनय पत्रिका' में। जाहिर है यह कवि के आत्मनिवेदनात्मक पदों का संग्रह है। नवल जी ने इसकी भाषा-संरचना पर गंभीरता से विचार किया है और अनेक पदों का अर्थ-विवेचन भी किया है। अनिवार्य प्रसंगों में उन्होंने निराला और मुक्तिबोध की भी चर्चा की है।

संक्षेप में, नवलजी की इस किताब से तुलसी काव्य की समकालीनता और किसी हद तक प्रासंगिकता उजागर होती है।

22, रीडर्स क्वार्टर, यूनिवर्सिटी कैंपस,
मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार)

प्रतिरोध और प्रतिरक्षा का घोषणापत्र

❑ कान्तिकुमार जैन

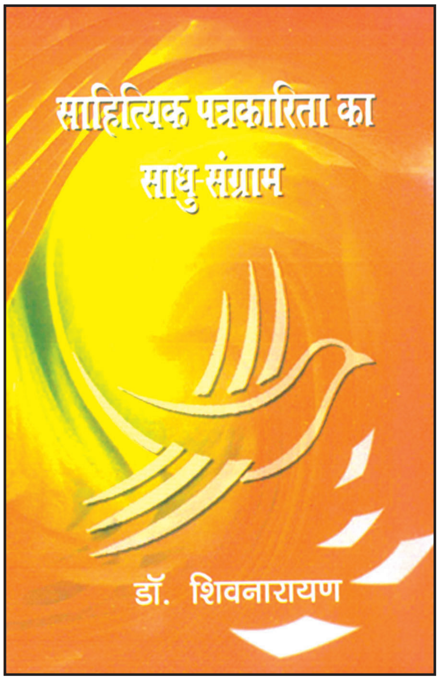

साहित्यिक पत्रकारिता का साधु संग्राम,
ले. शिवनारायण,
प्र. भावना प्रकाशन
पटपड़गंज, दिल्ली-110091
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 168, ₹ 300.00

हिंदी की प्रसिद्ध और पुरानी पत्रिका 'नयी धारा' को पढ़ने का मेरा ढंग किंचित असामान्य है। सामान्यतया लोग पत्रिकाएं शुरू से पढ़ना प्रारंभ करते हैं, किंतु मैं 'नयी धारा' अंत से पढ़ना प्रारंभ करता हूं। इसका कारण पत्रिका के संपादक शिवनारायण जी के पत्रिका के अंत में छपने वाले संपादकीयों की स्फूर्ति, टटकापन और नवोन्मेषशालिनी दृष्टि है। प्रत्येक बात को नितांत नए कोण से देखने के कारण वे अपने संपादकीयों में ऐसी वैचारिकता भर देते हैं कि उन्हें पढ़कर पाठक स्वयं को किंचित उद्वेलित और विचलित अनुभव करता है। मुक्तिबोध ने जिन्हें 'सकर्मक और तेजस्क्रिय' लेखक कहा था। जब शिवनारायण जी की नयी पुस्तक 'साहित्यिक पत्रकारिता का साधु संग्राम' पढ़ने को मिली तो मैं अतिरिक्त उत्साह से भर गया। संलेखों को पढ़ते हुए मैं पुस्तक के शीर्षक और पुस्तक में संकलित रचनाओं से तालमेल बैठाने की कोशिश करता रहा। शीर्षक से मुझे लगा कि शिवनारायण जी की यह पुस्तक साहित्यकारिता और पत्रकारिता के रिश्तों की जांच-पड़ताल करने वाली होगी या दोनों के उद्देश्यों का बयान करेगी। पता नहीं क्यों, हिंदी में साहित्य की तुलना में पत्रकारिता को दोयम दर्जे का मानने का रिवाज रहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर आज तक हिंदी में जो भी श्रेष्ठ और उल्लेखनीय लेखन है, वह पत्र-पत्रिकाओं में पहले छपता है और पुस्तक के रूप में साहित्य की शोभा बाद में बढ़ाता है। भारतेंदु से लेकर राजेंद्र यादव तक इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर पत्रकारिता को हिंदी के उच्चतम धुरीन वह महत्त्व नहीं देते, जो साहित्य को देते हैं।

हरिशंकर परसाई को बहुत दिनों तक स्तंभकार मात्र माना गया, पत्रकार माना गया, साहित्यकार तो नहीं ही माना गया, पर परसाई कर्रीजान लेखक थे, उन्होंने न केवल अपने लेखन को साहित्य का दर्जा देने-दिलवाने में सफलता पाई, बल्कि उसे अपने समय का इतिहास भी बना लिया। वास्तव में पत्रकारिता जल्दी में की गई साहित्यकारिता है और साहित्य आराम से की गई पत्रकारिता। शिवनारायण जी के सभी चौबीस आलेखों को पढ़ते हुए मुझे लगा कि वे जो भी लिखें, उसका स्तर बनाए रखते हैं। उनकी चिन्ता के विषय केवल भाषा, साहित्य और पत्रकारिता ही नहीं होते। पुस्तक के पहले खंड 'समय का विवेक' के सोलह निबंधों में विश्व आर्थिक नीति भी है, किराये की कोखवालियां भी हैं, वृद्ध जीवन की समस्याएं भी हैं और नदी होती हुई औरत भी है। वास्तव में वे अपने विचारों का कोट टांगने के लिए खूंटी की प्रतीक्षा नहीं करते, जो भी खूंटी दिखी, अपने विचारों का कोट टांग देते हैं।

पुराने दिनों में माखनलाल चतुर्वेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी ने भी 'कर्मवीर' और 'प्रताप' के संपादकीय में यही शैली अपनाई थी। 'प्रतीक' और 'दिनमान' को भी अज्ञेय ने विशुद्ध साहित्यकारिता के दायरे से बाहर निकाल कर जीवन और जगत के व्यापक संदर्भों से जोड़ दिया था। परसाई जी 'वसुधा' के अग्रलेखों में मानवीय जीवन से जुड़े किसी

भी प्रसंग को वैचारिकता के प्रसंग से बाहर नहीं मानते थे।

'साहित्यिक पत्रकारिता का साधु संग्राम' के संलेखों या समीक्षात्मक निबंधों में शिवनारायण जी की 'रेसेपी' सामान्य से किंचित् भिन्न हैं। वे विधाओं की एल.ओ.सी. का रौब नहीं मानते। उनका कौन-सा आलेख डायरी की शक्ल अख्तियार करेगा और कौन-सा यात्रा-वृत्तान्त का, नहीं कहा जा सकता। मैंने पुस्तक के शीर्षक आलेख को वैचारिक समझकर पढ़ना प्रारम्भ किया था, पर वह डायरी निकला, डायरी भी नीरस, शुष्क, तथ्यबोझिल या आत्ममुग्ध नहीं, भोपाल के साहित्यकारों और साहित्यिक परिदृश्य पर अत्यंत दो टूक बेलौस और आत्मीय टिप्पणियों से भरा रिपोर्ताज, जैसे कोई नखचित्र बनाता है, वैसे ही नाखून के तनिक से दबाव से व्यक्ति के व्यक्तित्व और वैचारिकता को उभारने की कोशिश। शिवनारायण जी शब्द के चयन से, कथन की भंगिमा से बिना कटु या तिक्त हुए सामने वाले को शिख से नख तक, बाहर से भीतर तक उघाड़ कर रख देते हैं। वैसे ही शिवनारायण जी जो कहना चाहते हैं, वह पूरी तरह, सधी हुई कलम से कह देते हैं।

शिवनारायण जी अपनी बात कहने के लिए आत्मीयता का, हार्दिकता का या मैत्री का एक स्प्रिंग बोर्ड तैयार करते हैं, एक प्रकार से पाठक को कांफीडेंस में लेने का कौशल! धीरे-धीरे अत्यंत कलात्मक कौशल से वे अपने मंतव्य का विस्तार करते हैं और उद्दिष्ट कथ्य को अपनी जद में ले आते हैं। इससे उनकी बातों की संप्रेषणीयता और विश्वसनीयता बढ़ जाती है और पठनीयता भी। 'बेटियों पर बरसती डॉ. नीरू झा' इसका एक नायाब उदाहरण हैं। नीरू झा की तरुणाई की चर्चा और उसकी सादगी का उल्लेख नए जमाने की बेटियों की तड़क-भड़क प्रियता के साथ वे इस प्रकार करते हैं कि अच्छे और बुरे का महाकाव्यात्मक विरोध याद आने लगता है। वे इस परिवर्तन के मूल कारणों तक पहुंचते हैं और ऊर्ध्वबाहु कहते हैं कि बाजार और मीडिया ने सौंदर्य बाजार को नए मान मूल्यों से इतना आकर्षक बनाया कि देश की लड़कियों में मॉडल बनने की होड़-सी लग गई। वे अत्यंत चिंता से कहते हैं कि लड़कियों के दिमाग में ये बातें भरी जाने लगीं कि ईश्वर ने उन्हें कैसी देहयष्टि दी, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना यह कि देह को बाजार की चाहत के अनुकल किस प्रकार अधिक से अधिक उत्तेजक-आकर्षक बनाया जा सकता है। नीरू झा और उनकी बेटियों का सत्य हम सबका सच है—'क्या इस पर हमारे रचनाकारों को विचार नहीं करना चाहिए?' पर सुनामी की लहरें और उत्तराखंड की मंदाकिनी का वेग सब कुछ ध्वस्त करने के लिए आतुर है। शिवनारायण जी खतरे के निशान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

शिवनारायण जी सामाजिक कदाचारों, सांस्कृतिक प्रदूषण और पश्चिम के अंधानुकरण की शल्य चिकित्सा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते। इस शल्य चिकित्सा में रोगी को निस्संज्ञ किए बिना ही 'लेजर बीप' पद्धति से वे सारे सड़े-गले अंगों की पहचान करते हैं। इस प्रक्रिया में न वे अपना आत्मविश्वास खोते हैं, न ही अपनी संवेदना। इस आत्मविश्वास का इतना संक्रामक प्रभाव होता है कि पाठक पूर्णतः उनके विमर्श का हामी बन जाता है और संलेख के अंत तक पहुंचते-पहुंचते वह कुछ बेहतर, कुछ बदला हुआ, कुछ जागरूक बना हुआ अनुभव करता है। साहित्य यदि 'शिवेत रक्षतये' है तो शिवनारायण जी का साहित्य इस शिव की रक्षा करता है। इस प्रयास में वे न दीनता का अनुभव करते हैं, न ही पलायन का विचार उनके भीतर जन्मता है।

शिवनारायण जी में एक अच्छी बात यह है कि रचनाकारों से परिचित होने की उनकी ललक कभी कम नहीं होती। वाद-विवाद के झंझा केंद्र में रहने से उन्हें भय नहीं लगता। वे सत्य के उत्स तक पहुंचना चाहते हैं। नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी, प्रलेसी और जलेसी, सकर्मक और अकर्मक सभी प्रकार के रचनाकारों के रचना-स्रोतों तक जाकर ही वे अपने निष्कर्ष निकालते हैं। छोटी-छोटी बातों से बड़े निष्कर्ष निकालने में वे माहिर हैं। इसका कारण यही है कि वे अपने संबंधों पर या विचारों पर कोई कार्बन नहीं चढ़ने देते। निरंतर अपने संबंधों और विचारों का भी मैगनेट साफ करते रहना उन्हें प्रिय है। उनकी शिक्षा-दीक्षा अधिकांशतः पटना में हुई है और वे नलिन, रेणु, नागार्जुन जैसे साहित्यकारों के अत्यंत निकट रहे हैं। एक प्रकार की ओजस्विता उनके व्यक्तित्व में है और उनके रचनाकर्म में भी। अपनी वैचारिकता को मलिन अथवा म्लान होने से बचाने के लिए निरंतर नई से नई पुस्तकों को पढ़ते रहते हैं और अपने सोच-विचार पर सान चढ़ाते रहते हैं। कदाचार का विरोध करने में वे अग्रणी हैं, जनपक्षधरता और जनहित उनकी पहली प्राथमिकता है और गुटधर्म के निर्वाह की तुलना में सत्य का पक्ष लेने में वे आगा-पीछा नहीं सोचते। पूंजीवाद से उत्पन्न होने वाले प्रदूषण के वे खड्गहस्त विरोधी हैं और समस्याओं के वृहत्तर संदर्भों को खंगाले बिना उनका लेखकीय कर्तव्य पूरा नहीं होता। प्रतिरोध और प्रतिरक्षा उनकी प्राथमिक आवश्यकता हैं।

शिवनारायण जी की पुस्तक का दूसरा खंड आधुनिक हिंदी के आठ कवियों और लेखकों से संबद्ध है। मैथिलीशरण गुप्त से लेकर शमशेर बहादुर सिंह तक के काव्य का उन्होंने सूक्ष्म परीक्षण किया है। दिनकर, आरसी प्रसाद सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री और गोपाल सिंह 'नेपाली' जैसे कवियों के काव्य विश्लेषण में उनका मन रमता है। वे लघुकथाओं जैसी हाशिये पर पड़ी विधा को भी नहीं भूलते और प्रेमचंद और मंटो की लघुकथाओं का उत्खनन कर अपनी शोध-रुचि का परिचय देते हैं। शिवनारायण जी का साहित्य में पहला प्यार कविता है। शिवनारायण जी भाषा के बाजीगर हैं। शब्दों से सही संदर्भों में खेलना उन्हें आता है, इसलिए उन्हें अभिव्यक्ति के संकट का सामना नहीं करना पड़ता। उन्होंने भाषा की गहन साधना की है, जो उनकी रचनाओं से झलकती है।

5, विद्यापुरम, मकरोनिया कैंप,
सागर-470004 (म.प्र.)

कहानी के लोकतंत्र में आलोचक की नागरिकता

❑ रत्नेश विष्वक्सेन

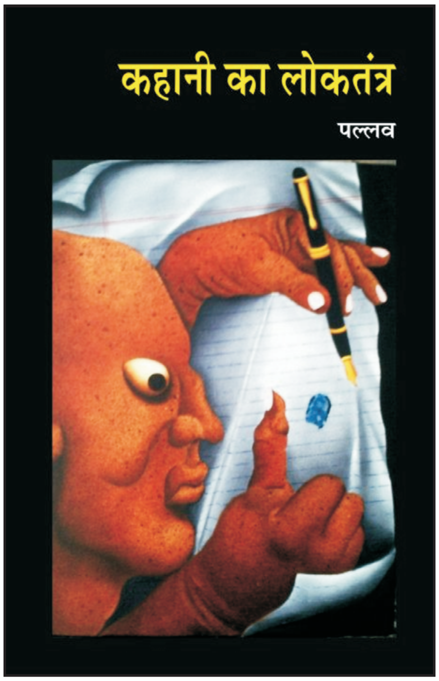

कहानी का लोकतंत्र, ले. पल्लव
प्र. आधार प्रकाशन प्रा. लिमिटेड
पंचकूला, हरियाणा
प्र.सं. 2011, पृ.सं. 168, ₹ 250.00

'कहानी का लोकतंत्र' युवा आलोचक पल्लव की आलोचना पुस्तक है। 'कहानी' पल्लव को विशेष रुचने वाली विधा है। वह कहानी की प्रत्येक संरचना, बदलाव, आंदोलन, उद्वेलन को नापते हैं। दलित और स्त्री का अस्मितामूलक विमर्श या फिर शिल्प की बारीकियों का कथा में तैर रहे जीवन संघर्ष से हमकदमी हो, पल्लव संयम और निष्ठा के साथ उनसे बतियाते हुए पाठकों में उम्मीद भरते हैं।

'कहानी के इस ओर' में उदारीकरण के बाद आए बदलाव, अस्मितामूलक विमर्श, बाजार और उपभोक्तावाद के दौर में किसान, गांव, खेत, खलिहान क्या उसी तरह के रह गए है या मूल स्वरूप बिगड़ गया है। सत्यनारायण पटेल की कहानियां देशज कथा रूप और शोषण से जूझने की उद्दाम चेष्टा वाली है जो अहा! ग्राम्या जीवन के भ्रम को तोड़ती है। 'पनही' प्रशंसित कहानी संग्रह है। वहीं चरणसिंह पथिक की राजस्थान की पृष्ठभूमि वाली कहानियां गांव के ठीक बीच से आती है। 'बक्खड़' कहानी धूल, गुबार और पसीने की चिपचिपाहट की चुभन है। आलोचक कहता है कि, ''चरणसिंह की कहानियां ग्रामीण जीवन के उन अज्ञात प्रदेशों में जाती है और संबंधों-परिघटनाओं का वृतांत रचती है जो पर्यटक के नाते संभव नहीं है।''

एस.आर. हरनोट साधारण प्रतीत होने वाले जीवन घटनाओं से यथार्थ कहे जाने वाले विडंबना की सृष्टि करते हैं। गौरीनाथ, भवानी सिंह, भगवानदास मोरवाल, अभिषेक कश्यप, कैलाश बनवासी, महेश कटारे और पंकज मित्र जैसे कथाकार 'गांव' को अपनी कहानियों के माध्यम से बता रहे हैं। आलोचक यह कहता भी है कि ''वस्तुतः किसी भी रचनाशीलता का विकास अपनी परंपरा से टकराकर और यथार्थ के नए स्वरूप को खोज कर ही हो सकता है। यह चुनौती इन कहानियों के समक्ष है।''

'पाठकीय भागीदारी का आह्वान करती कहानी' टीवी, इंटरनेट के जमाने में पाठकीय भागीदारी को लेकर रचनात्मक कौशल पर बहस है। पिछले कुछ सालों में कहानीकारों ने अपनी कहानियों को पाठक से पढ़े जाने के लिए शिल्प में बदलाव किए हैं। रमेश उपाध्याय जहां वाचिक परंपरा से कहानी के ढांचे का पुनर्निमाण, स्वयंप्रकाश की वाचक शैली, उदयप्रकाश की प्रश्नाकुलता और किस्सागोई वाली शैली तथा रघुनंदन त्रिवेदी का कथ्य और कथाशैली में नये प्रयोग शिल्पगत बदलाव के संकेत हैं। इस तरह इन कहानियों ने पाठकीय भागीदारी के संदर्भ में पाठकों को आकृष्ट करने में सफल रहे है।

किसानों की आत्महत्याओं के दौर में कृषि, बीज, खाद और कीटनाशक फसलों की रक्षा कम, किसानों की हत्या ज्यादा कर रहे हैं। इसकी चर्चा 'तय था हत्या होगी' लेख में सशक्त ढंग से उपस्थित है। हिन्दी के अपूर्व उछाल के इस लकदक दौर में किसान नहीं है यानी विमर्शवादी हिस्से में नहीं है।

'बैल, किसान और कहानी' लेख भी इसी किसानी दुर्दशा की अगली कड़ी है। जहां आज भी किसान सबका नरम चारा बना हुआ है। 'प्रेमचंद' से कैलाश बनवासी तक

किसानों की विडंबना बदस्तूर जारी है, पहले खंड का अंतिम अध्याय 'कहानी में रचनात्मक मुठभेड़' दलित साहित्य और विशेषकर 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की सर्जनधर्मी प्रतिरोध पर केंद्रित है। पल्लव बड़ी बेबाक मुद्रा में यह कहते हैं कि 'वाल्मीकि कथा में दुष्टता नहीं मनुष्यता, संकुचन नहीं विस्तार को रखते हैं।''

दूसरे खंड में 'स्त्री का संसार और कहानी' से लेकर 'हँसी से उपजी विडंबना' तक कुल छह लेख है जिनमें स्त्री लेखन, पहाड़ और व्यंग्यधर्मी कहानियों की शिल्प और संवेदना पर सार्थक चर्चा की है। चित्रा मुद्‌गल का 'चेहरे', राजी सेठ का 'खाली लिफाफा', सुधा अरोड़ा का 'काला शुक्रवार' और मृदुला गर्ग की 'संगति-विसंगति' को केंद्र में रखकर यथार्थ और रचना दृष्टि का मूल्यांकन विवेचन करता है। पल्लव ने सीमाओं की चर्चा भी कह है जो आलोचकीय दृष्टि से सफल भी रही है। इसी संदर्भ में तेलुगु कथाकार वोल्गा की रचनाधर्मिता की व्याख्या के माध्यम से बताया है कि स्त्री होने के संकट पूरे देश में एक जैसे हैं, यहां पर भारत एक है। गहन प्रश्नाकुलता और मुक्ति की बेचैनी इन कहानियों को सहेजकर रखने वाली मानवीय धरोहर बना देती है। यों आलोचक इस तरह इसकी तसदीक करता है।

'कहानी का समृद्ध संसार' कहानी के समकालीन परिदृश्य की विपुलता और विविधता को केंद्र में रखकर अपनी बात करती है।

आलोचक का यह कहना कि 'रमेश कथाकारों की उस पीढ़ी से है जो मनुष्य की क्षमता पर भरोसा रखती है एवं नैतिकता, सच्चाई व संतोष जिनके लिए महत्त्वपूर्ण मूल्य है।' नीलाक्षी सिंह 'प्रतियोगी' के माध्यम से अपने प्रतिरोध के तेवर को दुरूस्त कर रही है। पर पल्लव को यह शिकायत भी है कि वह अमूर्तता के घटाटोप से निबटे तो ज्यादा बेहतरी हो सकती है। इस साफ चेतावनी के साथ कि 'कहानी दो टूक कहने वाली जन विधा है।'

'कहानी में विचारधारा के इधर और उधर' में उपन्यास के दौर को कैलाश कहानियों के जरिये भाषा और भाव के स्तर पर पहचान दिला रहे हैं तो महेश कटारे हरीचरण प्रकाश और कैलाश बनवासी अमरकांत, असगर वजाहत और स्वयं प्रकाश की यात्रा से भिन्न और बेहतर करने की सौद्‌देश्यता के साथ संघर्षरत है।

'नए मुहावरे की तलाश' में स्वयं प्रकाश के 'संधान की चर्चा है' जिसमें वे अपने लिए नए मुहावरे की तलाश करते हैं जो उनकी कहानी को संप्रेषणीय, प्रभावी और उदात्त बना सके। ब्योरों और तथ्यों में न चूकने वाले सावधान कथाकार के तौर पर पल्लव ने उनकी स्थापना की है।

इस खंड का अंतिम लेख 'हँसी से उपजी विडंबना' है जिसमें कथाकार विष्णु नागर को हरिशंकर परसाई के बाद आलोचक श्रेष्ठ व्यंग्य कथाकार मानता है। व्यंग्य की महीन बुनावट और कथा कौशल का संतुलन 'रात दिन' में दिखता है। तीसरे और अंतिम भाग में 'नापना एक आदमकद कहानी को' से लेकर 'कफन-एक पुनर्पाठ' तक कुल आठ लेख हैं, जिसमें रघुनंदन त्रिवेदी से लेकर प्रेमचंद तक की व्याख्या-पुनर्व्याख्या है।

इस तरह 'कहानी का लोकतंत्र' पल्लव की आलोचकीय मेधा का समर्थ और बुनियादी चिंतन का उद्धरण बनकर सामने आता है। भाषा प्रसंगानुकूल है तो संदर्भों का सटीक प्रयोग पल्लव की प्रतिभा को पुष्ट करता है। लेकिन खास तरह की शब्दावलियों के दुहराव से बचने और निबटने की जरूरत है ताकि रचना और आलोचना के बीच का संतुलन और जरखेज हो।

सहायक, प्राध्यापक हिंदी विभाग, रांची कॉलेज मोरहाबादी, रांची-834008 (झारखंड)

मीनाक्षी नटराजन

1857 : भारतीय परिप्रेक्ष्य (दो खंड)

'1857 : भारतीय परिप्रेक्ष्य' सुधी अध्येता और सक्रिय समाजसेवी मीनाक्षी नटराजन का दो खंडों में प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह अब तक लिखे गए इतिहास से अलग उस धारा से जुड़ा इतिहास-लेखन है जो सीधा भारतीय दृष्टि और परिप्रेक्ष्य से अनुप्राणित है। 1857 की क्रांति ने हमारे राष्ट्र को एकजुट कर राजनैतिक तौर पर जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसने हमें राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के करीब लाने में कैसे अनुप्राणित किया, इन सूत्रों को मीनाक्षीजी ने गंभीरता से सामने रखा है। भारत तक पहुंचने की होड़ में लगे विदेशियों, प्लासी का युद्ध, वारेन हेस्टिंग्स के अत्याचार, दक्खन में अंग्रेज, हैदरअली और टीपू सुल्तान, अंग्रेज गर्वनर जनरल, मराठा युद्ध, कंपनी की विदेश नीति, पेशवाराज का अंत, नया चार्टर एक्ट, सिंध पर अधिकार तक क्रमशः पहला खंड परिचित कराता है।

दूसरा खंड सिख युद्ध से प्रारंभ होता है और 1857 की पूर्वपीठिका सामने रखते हुए क्रमशः दिल्ली में क्रांति, नाना साहेब और अजीमुल्ला, झांसी की रानी, कुंवर सिंह का संघर्ष, तात्या टोपे का जीवट, क्रांति के बाद अन्य केंद्रों के साथ ही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य को भी मीनाक्षी जी ने सम्यक रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय मन पर अंग्रेजी प्रतिरोध और दमन का खासा असर पड़ा। इससे भारतीयों को अपनी मुक्ति का नया मार्ग खोजने में मदद मिली। इतिहास के अध्येताओं, शोधार्थियों, शिक्षकों और छात्रों के लिए यह एक स्थायी महत्त्व का ग्रंथ है।

आकार : डिमाई *पृष्ठ : 848* *मूल्य : ₹ 1495 (2 खंड)*

सशक्त स्त्रीवादी स्वर

❑ *सुरेश पंडित*

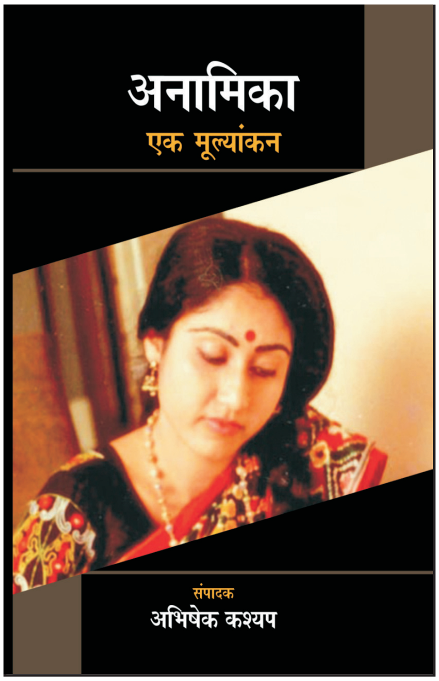

अनामिका : एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप
प्र. सामयिक बुक्स
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 512, ₹ 900.00

क्या सचमुच यह किसी प्रकार का संयोग था या पक्षपाती सोच कि समूची बीसवीं सदी में हिंदी के जातीय साहित्य के निर्माता, प्रगतिशील विचारधारा के उद्घोषक और मार्क्स के क्रांतिकारी दर्शन के अध्येतागण एक ओर पश्चिमी विचार और रचना से प्रेरणा लेते रहे, आलोचना के सिद्धांतों और सौंदर्यशास्त्र के सूक्ष्मान्वेषणों के अनुरूप हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र गढ़ने में लगे रहे, प्लेटो और अरस्तू से लेकर मार्क्स, एंगेल्स व हीगल तक और थोरो से लेकर कामू तक विपुल मात्रा में रचनात्मक और वैचारिक साहित्य का अनुवाद होता रहा, किंतु पश्चिम के सर्वाधिक उपेक्षित दलित वर्गों, समूहों, नस्लों का साहित्य और महिला मुक्तिवादी लेखन उनकी बौद्धिक और रचनात्मक परिधि से बाहर बना रहा। कभी उनकी प्राथमिकता नहीं बना। यही वह वजह है कि अस्मितावादी लेखकों के इस आरोप का तर्कसम्मत खंडन कभी नहीं हो पाया कि हिंदी का तीन-चार दशकों से पहले रचा गया साहित्य पुरुषवादी और सत्तावादी भाष्यमात्र है। हिंदी का लेखक चेतना के स्तर पर सामंती संस्कारों का वर्चस्व और रचना के स्तर पर मार्क्सवादी निकष अपनाता रहा है। उसने कभी ईमानदारी से यह सोचने की कोशिश ही नहीं की कि समाज का आधारभूत ढांचा बदल जाने के बाद भी समाज के सभी अंतर्विरोध स्वतः नहीं बदल जाते। इसके लिए चेतना का रूपांतरण भी जरूरी होता है। इस रूपांतरण के लिए सदियों से मन की गहराइयों में पैठे संस्कारों से लड़ना व उन्हें पराजित भी करना होता है और सचमुच यह एक बड़ी लंबी, उबाऊ व कष्टकारी प्रक्रिया होती है। उस पक्षपाती सोच का ही यह परिणाम देखने में आता है कि पश्चिम के समाजचेता विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल की विश्वव्यापी चर्चा का केंद्र रही पुस्तक 'स्त्री और पराधीनता' वर्जिनिया वुल्फ की कृति 'ए रूम ऑफ वन्स ऑन' तथा सिमोन द बोवुआर की 'द सैकिंड सेक्स' को हिंदी में आने में दशकों लग जाते हैं।

हमारे यहां क्रांति तो होती है। समय और परिस्थितियां समाज में परिवर्तन भी लाती हैं पर मनुष्य की चेतना को उस दिशा में ले जाने की कोशिश या तो होती ही नहीं या होती है तो ऐसे अधूरे मन से, जिसके सकारात्मक परिणाम प्रायः दिखलाई नहीं देते। इसलिए दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों को अपनी नई पहचान बनाने और समाज से उसे मान्यता दिलाने के लिए आज भी भारी जद्दोजहद करनी पड़ रही है। अपने लिए बराबरी का हक पाने, समाज में सम्मानजनक स्थान बनाने की जंग में दलित सबसे आगे रहे हैं, क्योंकि उन्हें समय-समय पर फूले, अंबेडकर, पेरियार और कांशीराम जैसे रहनुमाओं का मार्गदर्शन मिलता रहा है। वे अब एक अनुपेक्षणीय राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आ चुके हैं और अपने हितों को सुरक्षित रखने तथा मुख्यधारा की राजनीति को अपने लाभ के लिए उपयोग में लाने का सामर्थ्य उन्होंने हासिल कर लिया है, लेकिन स्त्रियां, जो दलितों और आदिवासियों से संख्या में बहुत अधिक हैं, अपने हकों को पाने

की दौड़ में बहुत पीछे हैं। न उनका कोई राजनैतिक संगठन है और न अपनी बात दूसरों तक पहुंचाने के लिए कोई मंच।

फिर भी पिछले तीन-चार दशकों में स्त्रियों ने अपनी पहचान बनाने और स्वायत्त जीवन जीने का अधिकार पाने के लिए जो जोरदार पहल की है, उसी का परिणाम है कि आज राजनीति व समाज के एजेंडे में उन्हें प्रभावशाली उपस्थिति मिल गई है। इसे पाने के लिए जहां उन्होंने समय-समय पर अपने विभिन्न मुद्दों को लेकर आंदोलन किए हैं, वहीं वैचारिक मोर्चे पर उन्होंने रचनात्मक व विमर्शात्मक लेखन को अपना हथियार बनाया है। जिन लेखिकाओं ने इस मोर्चे को संभाला है, उनमें अनामिका के नाम को किसी भी दृष्टि से नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उन्होंने जो कुछ और जितना कुछ साहित्य की विधाओं में लिखा है, उसका मूल स्वर एक है और वह है स्त्री की मुक्ति। उसमें स्त्री के पारंपरिक जीवन की विडंबनाओं से मुक्ति और एक ऐसे समाज की निर्मिति की चाह है, जिसमें सचमुच स्त्री-पुरुष समान धरातल पर निर्द्वंद्व होकर विचरण कर सकें। वे प्रचलित अर्थों में अत्युत्साही एक्टिविस्ट सरीखी फेमिनिस्ट नहीं हैं, लेकिन स्त्री के जटिल प्रश्नों को राजनीतिक प्रश्न बनाने के पक्ष में अवश्य जी जान से जुटी हैं। उनकी अब तक की गई रचनागत वैचारिकी की यात्रा को लेकर समय-समय पर तरह-तरह के लेखकों ने अलग-अलग तरह की प्रतिक्रियाएं, मंतव्य प्रकट किए हैं। वे ख्यातनाम आलोचक तो हैं ही, सामान्य किंतु जागरूक पाठक की तरह बिना लाग-लपेट के अपनी राय प्रकट कर देने वाले लोग भी हैं। इन सबको एक तर्कसंगत क्रम में रखकर एक विधिवत् संपादित पुस्तक का रूप दिया है सुपरिचित लेखक अभिषेक कश्यप ने। 'अनामिका एक मूल्यांकन' शीर्षक वाली 512 पृष्ठों की पुस्तक चार खंडों में विभाजित है। कविता, कहानी, विमर्श और संवाद के अंत में एक परिशिष्ट भी है। संवाद में अनामिका के द्वारा समय-समय पर समीक्षकों को दिए गए साक्षात्कार रखे गए हैं और परिशिष्ट में उन्होंने स्वयं अपनी रचना प्रक्रिया और वैचारिकी पर प्रकाश डाला है।

स्त्री मुक्ति आंदोलन के बारे में उनकी स्पष्ट राय है कि स्त्रियों के प्रति अब तक किए जाते रहे अन्याय और हर तरह के मानवीय अधिकारों से उनको वंचित किया जाना जैसे आक्रोश पैदा करने वाले भावों का प्रतिरोध लेना इस आंदोलन का मुख्य मंतव्य नहीं है। इसका उद्देश्य तो मात्र इतना है कि पितृप्रधान मानसिकता वाला पुरुष वर्ग स्त्रियों को सच्चे अर्थों में लाइफ पार्टनर (जीवन संगी) समझे और उसे उतना ही सम्मान व महत्त्व दे, जितने की वह उससे अपेक्षा करता है। वे कहती हैं—'क्रोध' और 'काम' के सरप्लस या अतिरेक से पुरुष को उबारना ही स्त्री आंदोलन की सबसे बड़ी चुनौती है। वे वह नहीं हैं, जो उन्हें समझा जाता है।

औरत के बारे में सुविख्यात दार्शनिक अरस्तू कहता है कि, ''वह कुछ गुणवत्ताओं की कमी के कारण ही औरत बनती है। प्राकृतिक रूप से उसमें कुछ कमियां होती हैं। इसीलिए मानवता का स्वरूप पुरुष होता है। वह औरत के पुरुष से संबंध को परिभाषित करता है। वह उसे एक स्वायत्त इकाई नहीं मानता। वह वैसी ही बनती है जैसा पुरुष उससे बनने को कहता है।'' पर अनामिका न उसे पुरुष से कमतर मानती है और न कुछ कर पाने के लिए सामर्थ्यहीन। तभी वह कहती है, ''सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं होती/ न ही बंधी होती इन सीमाओं में/ कुछ कर पाने की ललक।'' वह अगर मन में धार ले तो उसके लिए कठिन से कठिन काम भी कर लेना असम्भव नहीं होता। मर्यादा पुरुष राम की धर्मपत्नी के बारे में अनामिका कहती हैं, 'कई बार मन की सीता ने/ लांघनी चाही है/ मर्यादा की वह लक्ष्मण रेखा/ जिसके पार वर्जनाओं के जंगल शुरू होते हैं।' स्त्री को घरवाली, गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी आदि अनेकों विशेषणों से इसलिए भरमाया जाता है ताकि वह पतिगृह को अपना समझ उसकी अच्छी तरह से देखभाल करे, उसे चाक-चौबंद रखे, लेकिन जैसे ही पति-पत्नी में खटपट होती है, पति उसे घर से निकालने में तनिक सी भी देर नहीं लगाता। क्षणभर में गृहस्वामिनी घर से बेदखल हो जाती है और उसकी हैसियत मिट्टी में मिल जाती है, 'जिनका कोई घर नहीं होता/ उनकी होती है भला कौन-सी जगह/ कौन-सी जगह होती है ऐसी/ जो छूट जाने पर/ औरत हो जाती है/ कटे हुए नाखूनों/ कंघी में फंसकर आए केशों सी/ एकदम बुहार दी जाने वाली।' धर्मशास्त्र स्त्रियों से कहते हैं—चुप रहो और जो आचार संहिता तुम्हारे लिए बनाई गई है, उसका पालन करो क्योंकि चुप्पी का अपना ही सौंदर्यशास्त्र हुआ करता है। ईश्वर की महिमा धारण करने वाले देवतागण स्वयं चाहे कुछ भी अनाचार करते रहे हों, लेकिन कभी उन्होंने यह कल्पना करने की जहमत नहीं उठाई कि यदि वे स्वयं स्त्री होते और उन्हें पुरुषों की मनमानियां चुप रहकर सहनी पड़तीं तो वे कैसा महसूस करते। अनामिका ने इस स्थिति की जीवंत कल्पना इन पंक्तियों में की है, ''ईसा मसीह/ औरत नहीं थे/ वरना मासिक धर्म/ ग्यारह वर्ष की उम्र से/ उनको ठिठकाए ही रखता/ देवालय के बाहर/ बेथलहम और यरूशलम के बीच/ कठिन समय में उनके/ हो जाते कई तो बलात्कार/ और उनके दुधमुंहे बच्चे/ चालीस दिन और चालीस रातें/ जब काटते सड़क पर/ भूख से बिलबिलाकर मरते/ एक एक कर/ ईसा को फुर्सत ही नहीं मिलती। सूली पर चढ़ जाने की भी।''

इस तरह अनामिका की कविताएं बताती हैं कि चुप्पी की ताकत भाषा से बड़ी होती है। ये कविताएं आसपास दिन- प्रतिदिन घटनेवाली घटनाओं से निर्मित हुई हैं।

कविता अनामिका की प्रमुख विधा चाहे न हो, प्रिय विधा जरूर है। उसकी सीमाओं को जानते हुए भी अपने मन की बातों को प्रकट करने के लिए वे उसी का दामन थामती हैं। कविता के प्रति अपने मोह को प्रकट करते हुए वे कहती हैं, ''कविता का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बहुत ज्यादा नहीं बोलती। बोलती है तो इशारों में। कभी कोई दास्तान लेकर भी बैठी तो कुछ चुनिन्दा क्षण और विवरणों का घरौंदा सा सजा देती है, मानो मानकर चल रही हो कि बीज तो ग्रहण कर ही लिया सुनने वाले ने, अब अपने आंगन में बोकर खुद देखेगा कि कि पत्तियां कैसे चटकती हैं।''

उपन्यास को आधुनिक रीतिकार लोकतंत्र का महाकाव्य कहते हैं। अनामिका भी इसमें आपबीती व जगबीती को मुक्त भाव से मुखरित होता पाती हैं, लेकिन वह मुक्तता स्वच्छन्दता का पर्याय नहीं होती। उपन्यास की थीम इसे नियंत्रित करती है और सारे घटनाक्रम को अपने इर्द-गिर्द घूमने के लिए विवश करती है। उनका 'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास नामवर सिंह की राय में एक कथा-कोलाज है। इसमें कई पात्र अपनी-अपनी कहानी अपनी-अपनी तरह से कहते हैं, लेकिन उपन्यास की थीम से वे भटकते नहीं। यह थीम बड़ी चतुराई से स्त्री मुक्ति की अवधारणा को देश की मुक्ति से जोड़ती है। इसीलिए इसमें स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ आंतरिक संग्राम को भी दृश्य पटल पर घटित होते हुए दिखाया गया है। इसकी दो नायिकाएं हैं—पंडिता रमाबाई जिनके कार्यकलाप को देश के बाहर के लोग भी जानते हैं और मुजफ्फरपुर में कोठे पर बैठकर धंधा करने वाली ढेलाबाई भी। यह उपन्यास एक तरह से रमाबाई की डॉक्यूमेंटरी के रूप में सामने आता है। दूसरा उपन्यास 'तिनका तिनके पास' एक तरह से पहले उपन्यास का ही पूरक प्रतीत होता है। यद्यपि दोनों अपने-अपने रूप में स्वायत्त भी हैं। दोनों मिलकर सांस्कृतिक इतिहास का एक पुनराख्यान रचते हैं। राजकिशोर का मानना है कि इन उपन्यासों में 'तर्क, शास्त्र और लोक का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। इस सर्वसमावेशी दृष्टि से जिस नारीवादी चेतना का विकास होता है, वह अन्ततः मानवतावाद का पर्याय बन जाती है।

हिंदी में स्त्री विमर्श की अधिकतर पुस्तकें अपने स्वरूप में अनुभवपरक रही हैं। इन्हें विभिन्न लेखिकाओं ने अपने-अपने जीवनानुभवों को पाठकों के सामने रखने के लिए लिखा है। शुरू में इन विमर्शकारों ने पुरुष को एक क्रूर, अत्याचारी और स्वेच्छाचारी के रूप में प्रस्तुत कर उनके प्रति एक प्रकार का वैमनस्य भाव प्रदर्शित किया था और यह माना था कि ये संवेदनशील जीवन संगी नहीं बन सकते, लेकिन आगे चलकर इस प्रतिक्रिया की तुर्शी धीरे-धीरे सौम्य होती जाती है और वे पुरुष की बजाय पितृसत्तात्मकता का विरोध करने पर उतर आती है। भूमंडलीकरण ने मनुष्य की जीवन शैली को, उसके चिंतन को और रूटीन को बहुत बदला है, लेकिन जिस गति से उसका बाह्य जीवन बदला है, उसी गति से उसकी सोच, उसकी मानसिकता में बदलाव नहीं आए हैं। इसका कारण उसमें सदियों से स्थापित वे संस्कार हैं, जिन्हें संस्कृति व धर्म ने बड़ी मेहनत से पाला-पोसा है। इन्हीं के दबाव से वह उन मूल्यों को अपनाने से भी कतराता है, जिन्हें मन से स्वीकारता है। अनामिका का मानना है कि स्त्रियों को अपने अधिकारों को पाने के लिए अपनों से ही लड़ना पड़ता है। इनमें पति, भाई, पिता, प्रेमी, पुत्र और सहकर्मी सभी शामिल रहते हैं। अपनों से ही अपने अधिकार मांगना संबंधित पुरुषों को इसलिए अटपटा लगता है, क्योंकि उन्हें परिवार में, समाज में बड़े बुजुर्गों से कभी यह सीख मिली ही नहीं होती कि स्त्रियों को भी कुछ चाहिए। स्त्री सिर्फ पत्नी या प्रेमिका ही नहीं होती। वह मां-बहन, बेटी व मित्र भी होती है। इस रूप में पुरुष के साथ उसके संबंधों के कई-कई आयाम सामने आते हैं, किंतु इन संबंधों से मिलने वाले अपार स्नेह व लगाव के बावजूद जब स्त्री के व्यापक पक्ष को नकार दिया जाता है, तभी स्नेह शोषण का रूप ले लेता है। दरअसल इस तरह के स्नेह संबंधों का स्वरूप उसी क्षण बदलने लगता है जब स्त्री केवल मादा न रहकर एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की तरह सामने आती है। पुरुष जितना आजाद स्वयं को मानता है, उतनी ही आजादी जब स्त्री भी मांगती है तो द्वंद्व शुरू हो जाता है और उसका अन्त तभी होता है, जब या तो स्त्री समझौता कर लेती है या पुरुष जीवन से निकल जाती है।

इस तरह यह पृथुलाकार पुस्तक अनामिका के लेखन और चिंतन दोनों विधाओं पर विभिन्न लेखकों की विस्तृत प्रतिक्रियाओं का महत्त्वपूर्ण संकलन है। इसमें अनामिका की उल्लेखनीय रचनाओं का मूल्यांकन तो है ही, उनकी रचना प्रक्रिया और विचारधारा के क्रमिक विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। अच्छी बात यह है कि जगह-जगह स्वयं लेखिका ने भी अपनी बात को स्पष्ट करने की पहल की है। स्त्री विमर्श के बारे में जो लोग अधिक जानने या शोध करने की इच्छा रखते हैं, उनके लिए भी यह पुस्तक उपयोगी साबित हो सकती है।

383 स्कीम नं. 2, लाजपतनगर
अलवर-301001 (राजस्थान)

साफबयानी के कायल शायरों पर एक नजर

❑ *तरुण कुमार*

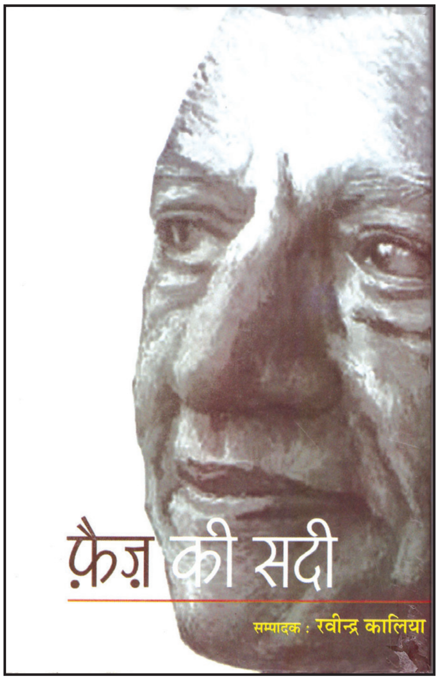

फ़ैज़ की सदी, सं. रवीन्द्र कालिया, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 2011, पृ.सं. 112, ₹ 110.00

घर से तो हर मुआमला करके चले थे साफ हम/
कहने में उनके सामने बात बदल-बदल गई।

फ़ैज़ साहब की इन पंक्तियों में एक प्रेमी की मासूमियत का ही नहीं, एक शायर के सामने पेश मुश्किल का भी बयान है। उसका सोचा, महसूस किया, ठीक वैसे ही बयान नहीं हो पाता। बयान होते-होते अक्सर ही बात बदल जाती है। एक सच्चे कवि, शायर का यही संघर्ष है कि कैसे वह दिल की बात को सही-सटीक लफ्जों में बयान कर दे। फ़ैज़ की यही खासियत है कि वे अपने सोचे-महसूस किए गए को बड़ी सफाई-सादगी के साथ ही नहीं, बड़े प्रभावशाली तरीके से व्यक्त करने में माहिर हैं। फ़ैज़ की सदी 'फ़ैज़ अहमद फ़ैज़' की मशहूर ग़ज़लों और नज्मों का संग्रह है, जो फ़ैज़ साहब के सौ साल पूरे होने के अवसर पर प्रकाशित हुआ है।

2011-12 में फ़ैज़ साहब की सौवीं जयंती पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में और उससे बाहर भी बड़ी धूमधाम से मनाई गई है। हिंदी-उर्दू में अनेक पत्रिकाओं के विशेषांक निकाले गए। उसी कड़ी में समीक्ष्य पुस्तक भी सामने आई। पुस्तक क्या है, गागर में सागर है। फ़ैज़ साहब के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को करीब सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में बड़े जानदार-शानदार तरीके से हिंदी पाठकों के सामने लाया गया है।

इसमें फ़ैज़ साहब की चुनिन्दा ग़ज़लें और नज़्म तो शामिल है ही, खुद फ़ैज़ की जुबानी उनके जीवन की उतार-चढ़ाव भरी कहानी भी शामिल है। अलावा इसके, गालिब पर उनका एक जानदार व्याख्यान भी शामिल है। यह हमसे गालिब का अंतरंग परिचय ही नहीं कराता, उनको बड़ी संजीदगी और धीरज से पढ़े जाने की मांग करता है। गालिब की ग़ज़ल की बुनावट की चर्चा करते हुए ग़ज़ल के बारे में इस प्रचलित धारणा का निराकरण भी किया गया है कि उसमें कोई एक मुकम्मल भावधारा या कि विचार-प्रवाह नहीं होता। काबिलेगौर है उनका यह कहना, ''गालिब के पुख्ता जमाने के कलाम में देखेंगे कि हर ग़ज़ल करीब-करीब एक ही मूड की है या एक ही कैफियत लिए हुए है। न सिर्फ यह, बल्कि उस मूड की भी जो अलग-अलग कैफियतें हैं, उनमें भी एक तरतीब पाई जाती है। ग़ज़ल का यह सिलसिला आंतरिक होता है और जो महज महसूस किया जा सकता है।' गालिब की 'मुद्दत हुई है यार को मेहमां किए हुए', मिसरे से शुरू से हुई ग़ज़ल की व्याख्या करते हुए इस पर जोर दिया गया है कि इसमें 'शुरू से आखिर तक एक बुनियादी मजमून और एक बुनियादी कैफियत' ही नहीं है, बल्कि यह बिल्कुल एक राग था म्यूजिकल कॉम्पोजिशन या एक फिल्म की तरह है।'' फ़ैज़ साहब का व्याख्यान पाठाधारित (टेक्सट्यूअल) आलोचना का भी बेहतरीन नमूना है।

फैज साहब के चंद खत भी इस संकलन में हैं, जो पत्नी और बच्चों के नाम हैं। इनमें पारिवारिकता के साथ जीवन के गहरे फलसफे भी हैं, जैसे कि यही–'ख्वाबों को हकीकत की जंजीरों से आजाद नहीं किया जा सकता।' और फिर अपने उपहास का उनका यह अंदाज

भी दिलचस्प हैं, 'तुम कहोगी कि हम बुकराती ऊंचा फलसफा छांट रहे हैं।' उनका एक छोटा-सा एकांकी भी संकलन में शामिल है जिसमें प्राइवेट सेक्रेटरी के पागल कर देनेवाले जीवन की दास्तान बड़ी खूबसूरती और सलीके से बयान की गई है, साथ ही कुलीन वर्ग के ढकोसलों का पर्दाफाश भी है। संकलन में 'विवेचना' के अंतर्गत विजयमोहन सिंह, परमानंद श्रीवास्तव और अली अहमद फातमी के आलेख भी शामिल हैं, जिनके जरिए फ़ैज़ साहब के शायर और उनकी शायरी के विभिन्न पहलुओं पर अच्छी रोशनी पड़ती है।

'फ़ैज़ की सदी' पुस्तक संपादक रवींद्र कालिया की ओर से हिंदी के उर्दू और खासकर फ़ैज़-प्रेमी पाठकों को पेश एक खबसूरत तोहफे की तरह है। पाठक इसके लिए कालिया साहब के शुक्रगुजार होंगे।

शहरयार सुनो

शहरयार हिंदी पाठकों-श्रोताओं के बीच किसी परिचय के मुहताज नहीं हैं।

शहरयार सुनो, सं. गुलजार,
प्र. भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2011, पृ.सं. 191, ₹ 220.00

लोगों ने इन्हें खूब सुना है और सराहा भी है। हिंदी में इनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। उर्दू में पाकिस्तान से इनकी रचनावली (कुलयात) भी प्रकाशित हो चुकी है। उसी से अपने पसंद की शहरयार की कुछ चुनिन्दा ग़ज़लों और नज़्मों का संकलन-संपादन गुलजार साहब ने किया है, जो खुद एक नामचीन शायर हैं। संकलन का नाम भी खूब है–'शहरयार सुनो'। उर्दू शायरी आज भी कहने-सुनने की परंपरा से ज्यादा जुड़ी है। यहां शेर-ग़ज़ल कहे जाते हैं, लिखे नहीं जाते। जाहिर है कि जब कहे जाते हैं तो पढ़े जाने के लिए नहीं; सुने जाने के लिए। 'शहरयार सुनो' में इस परंपरा की गूंज तो शामिल है ही; खुद शहरयार को शहरयार को सुनाने का खूबसूरत अंदाज भी शामिल है। बहरहाल, गुलजार साहब ने इस संकलन के जरिये हिंदी पाठकों को शहरयार के पूरेपन से रू-ब-रू होने का मौका मुहैया कराया है। अपनी छोटी-सी भूमिका के जरिये गुलजार ने वह खिड़की भी खोल दी है, जिससे शहरयार की शायरी से निकलनेवाली खुशबू का जायजा लिया जा सकता है।

संकलन में नज़्म पहले है, ग़ज़लें बाद में। पहली नज़्म 'वक्त' नाम से है। इन्सान ही है जो नादान होता है, एहसास का पुतला होता है। इसलिए वह पीछे मुड़कर भी देखता है। वक्त न हम-सा नादान होता है और न अहसास का पुतला, इसलिए वह अपने पैरों के छोड़े निशान कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता। वक्त और इन्सान के रिश्ते के साथ दोनों के फर्क को यहां बड़ी सफाई और चुस्ती से बयान किया गया है। 'भूमिका' में गुलजार यूं ही नहीं फरमाते कि 'बयान में इख्तसार और लहजे की नमी उनका खास अंदाज है।' यहां 'कब्रिस्तान' है, 'जहां सारी तहजीबें शरमाई-सी सरबरहना (नंगे सिर) खड़ी हैं। ऐसे फलसफाने अंदाज उनकी शायरी के बीच बड़ी मासूमियत के साथ आते हैं, बिना उनकी शायरी पर बोझ बने। अंधेरा, उजाला, दिन, रात, शाम, सुबह, उनकी शायरी में अनेक अर्थों, रूपकों और अंदाज में यहां मौजूद हैं। एक छोटी-सी नज़्म यहां पूरी की पूरी पेश है, जिसका उन्वान है 'क़ुबे क़यामत' (प्रलय की निकटता)।

अंधेरे का सर जो उजाले की तलवार से
काटती थी–
सियहबख़्तों को रोशनी बांटती थी
जो तन्हाई की खाई को पाटती थी
उस आवाज को भी हवा खा गई है
कयामत बहुत ही करीब आ गई है

कयामत यहां कोई मजहबी खयाल नहीं है। आज उसके करीब आने का तल्ख एहसास इसलिए तारी है कि वह आवाज गुम है जो कयामत को हम तक फटकने नहीं देती थी। आज के दौर पर कैसी सधी टिप्पणी है यह और इसीलिए 'धुंध की हुकूमत' के खिलाफ यह बेचैन आह्वान भी–

अब तो इस उफ़क़ (क्षितिज) पर भी
धुन्ध की हुकूमत है
अब तो बंद होंठ खोलो
अब तो चीख कर रो लो

शहरयार की इस बेचैनी का इजहार कभी 'जंग-आलूद तलवार' तो कभी 'बुझ चुका शोला' के बहाने होता है, जिनमें दुनिया के रंजोगम या जमाने के दर्द का इजहार है। 'कैद आहटों' को आजाद देखने की ख्वाहिश से उपजी शायरी शहरयार की शायरी का जरूरी अंदाज है। उनकी शायरी की दुनिया 'आंसुओं की ओस', 'शब का सहारा', 'सुबह का दरिया', 'नींद की शबनम चादर', 'पनवड़ियों की दुकान', 'फूल फिर से उगाने की कोशिश', 'बूढ़े तनावर बरगदों के साये', 'हवा के पांव', 'होंठों पर बारिश', 'साफ पानी पर उंगलियों से लिखी चिट्ठी', 'बर्फ की उजली पोशाक' जैसे अनेकानेक चित्रों से लबरेज है। 'सीने में जलन...' जैसी उसकी अनेक लोकप्रिय ग़ज़लें भी इसमें शामिल हैं। शहरयार-प्रमियों को गुलजार के द्वारा किया गया यह चयन और संकलन पसंद आएगा; यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

न्यू प्रोफेसर्स क्वार्टर रानीघाट, महेन्द्रू,
पटना-800006 (बिहार)

धूप के टुकड़े में छांह की शीतलता

❑ *श्रीकांत सिंह*

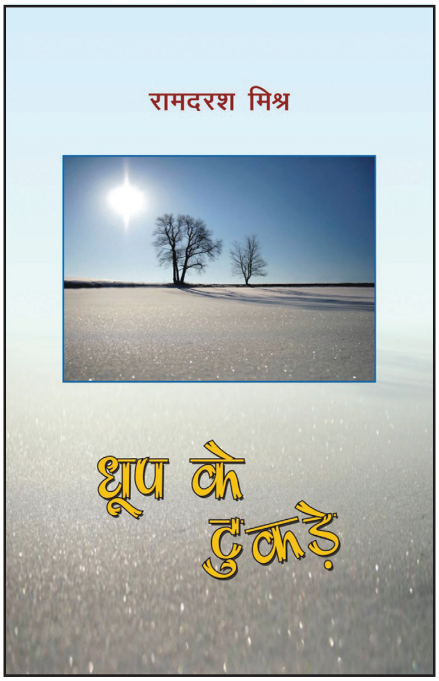

धूप के टुकड़े, ले. रामदरश मिश्र, प्र. शांति पुस्तक मंदिर कृष्णानगर, दिल्ली-110051 प्र.सं. 2012, पृ.सं. 96, ₹ 150.00

एक रचनाकार के रूप में रामदरश मिश्र का व्यक्तित्व व कृतित्व अनेक आयामी रहा है। यों लेखक के अनुसार कविता की यात्रा उनकी केंद्रीय यात्रा रही है। वे स्वयं इस पुस्तक के प्राक्कथन (ये मुक्तक) में बड़ी साफगोई से यह स्वीकार करते हैं कि, ''कविता को छोड़कर अन्य किसी विधा में लिखने की मेरी पूर्वयोजना नहीं थी। कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण, यात्रावृत्त, आत्मकथा, डायरी   ये सारी विधाएं सहज भाव से अलग-अलग समय पर मुझसे अपनेआप जुड़ती चली गईं।'' इन बातों से यह अंतर्ध्वनि निकल रही है कि लेखक किसी खास विधा में बंधकर नहीं चला है। समय और संदर्भ के अनुसार सहज भाव से जो-जो विषय सामने आते गए हैं, कभी वे पद्यात्मक रूप में, तो कभी गद्यात्मक रूप में ढलते गए हैं।

बहरहाल, बात को केंद्रित करते हैं समीक्ष्य पुस्तक 'धूप के टुकड़े' पर! इस पुस्तक की सभी रचनाओं को लेखक ने 'मुक्तक' नाम दिया है। इस पुस्तक के सभी मुक्तक चार-चार पंक्तियों के हैं। किसी खास विषय पर केंद्रित, सत्य के किसी खास पक्ष को उद्घाटित करते, समय-समाज की विविध समस्याओं व सच्चाइयों को आवाज देते। प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत इन मुक्तकों के लिए लेखक ने 'धूप के टुकड़े' बड़ा सारगर्भ नाम दिया है, क्योंकि टुकड़े-टुकड़े में सत्य के भिन्न-भिन्न आयाम आते-जाते हैं और सहृदय वर्ग को अपनी तरफ खींचते जाते हैं। जहां कहीं लेखक को अंधेरा नजर आया है, समय-समाज के जिस किसी मंजर को देखकर लेखक उद्वेलित हुआ है, क्रमशः उस अंधेरे को हटाने के लिए और वहां उजास भरने के लिए उसने मुक्तकों की रचना की है। कहीं लेखक ने तथाकथित बाबाओं के प्रवचन में सुख-शांति खोजनेवाले और उनकी चमत्कारी बातों पर तालियां बजानेवाले लोगों को मुक्तक का विषय बनाया है तो कहीं गली-गली में माइक लगाकर शोर मचानेवाले, थके-सोए लोगों को जगानेवाले धर्मी जनों को! हजार ठोकरें खाकर असमय चले जाने वाले, असफल होने पर आत्महत्या करने वाले, एक ख्वाब के टूट जाने पर दूसरा ख्वाब सजाने और कभी अपने बचपन को ख्वाबों में आने की बात लेखक ने कही है। इस संदर्भ में लेखक ने कहीं परामर्श दिया है, तो कहीं उत्प्रेरित किया है। कहीं हताश-निराश लोगों में आशा का संचार किया है।

मुक्तक संख्या 21 और 22 में लेखक ने 'छोटू' नामक एक बच्चे का उल्लेख किया है, जो समस्त असहाय दीन-हीन बच्चों के प्रतीक रूप में है। ये मुक्तक जहां वैसे बच्चों के दुःख-दर्द को बयान करते नजर आते हैं, वहीं उन्हें अपनी ताकत पहचानने और अपना हक हथियाने की भी बात करते दीखते हैं, ''फुटपाथ पर टूटा हुआ अरमान हो छोटू/इस देश की जनतंत्र की पहचान हो छोटू/ आंखों में तुम्हारी भी क्या उगते हैं कभी ख्वाब, हँसते चमन के पास बयावान हो छोटू/ उट्ठो कि तुम्हीं हाथ हो, निर्माण हो छोटू/ ताकत से अपनी आज तक अनजान हो छोटू/ जो कुछ है यहां हक है तुम्हारा भी जान लो/ तुम भी तो इसी देश की संतान हो छोटू।''

इस मुक्तक संग्रह में कई विषय और समस्याएं गिरफ्त में आई हैं मसलन भ्रष्टाचार, अनैतिकता, शोषण आदि।

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, कॉलेज आफ कॉमर्स, पटना-20 (बिहार)

प्रयोगधर्मिता रंगमंचीय चुनौती

❑ *लवकुमार लवलीन*

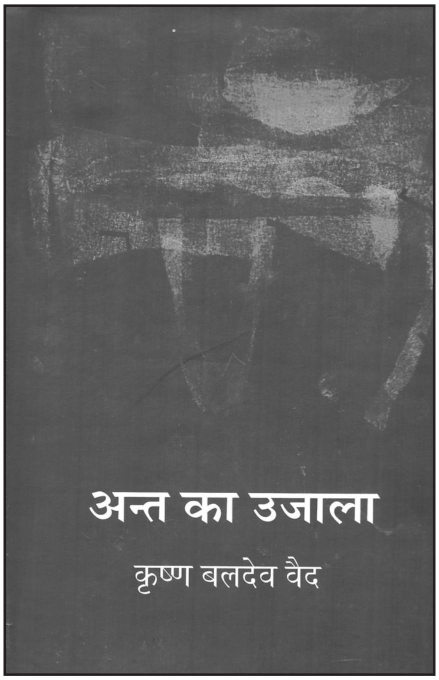

अंत का उजाला, ले. कृष्ण बलदेव वैद,
प्र. राजकमल प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 112, ₹ 200.00

अंत का उजाला

'भूख आग है' की आशातीत सफलता के बाद वरिष्ठ कथाकार कृष्णबलदेव वैद का नया प्रयोगवादी नाटक 'अंत का उजाला' उम्र के चौथे और अंतिम चरण पर पहुंच चुके मियां-बीवी (स्त्री-पुरुष संबंध) के अंतरंग संसार को, कटु-मधु जीवनानुभवों को प्रस्तुत करता है। कहानी, उपन्यास, अनुवाद, समीक्षा और अनेक चर्चित नाटकों के लेखक की यह रचना भाषायी प्रतीकों, अर्थ-व्यंजनाओं और काव्यत्वपूर्ण संवादों के बावजूद नितांत सीमित अनुभवों और अनुभूति वाली है। दो भिन्न और विपरीत विचारधाराओं तथा स्वभाव के कारण स्त्री और पुरुष कोई भी रिश्ता मजबूती से जोड़ नहीं सकते और हर हालत में दोनों को आजीवन एक-दूसरे से खट्टी-मीठी शिकायतें बनी ही रहती हैं। जीवन के अंतिम पड़ाव तक पहुंचकर भी वे अपनी बातों और विचारों के द्वारा एक-दूसरे को दबाने या अपने मन की भड़ास निकालने का कोई न कोई बहाना ढूंढ़ ही लेते हैं। जीवन की तमाम असुविधाओं और गिले-शिकवों के बाद भी इन दोनों के बीच एक रागात्मक संबंध बना हुआ है और यही नाटक की पूरी संवेदना को एक नया मोड़ देता है। दोनों ही एक-दूसरे की बातों को काटते हुए भी समर्थन ही करते हैं। नाटक मंचोपकरणों के अभाव, पात्रों के क्रियाकलापों में शिथिलता, दृश्य-सज्जा विहीन मंचीय व्यवस्था और अर्थगर्भित बिंबों/संकेतों/प्रतीकों के बावजूद अपने संवादों के बल पर नर-नारी के परम मानवीय संबंधों के भीतर की विडंबना तथा वास्तविकता का रोचक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। चरित्र और अनुभव की असामान्यता की दृष्टि से, पात्रों की हरकतों और मुद्राओं से सर्वथा परे यह नाटक कथ्य और निष्कर्ष की दृष्टि से अपूर्व या उत्तेजक न होने के बावजूद समकालीन अनुभव को आधुनिक मुहावरे और अ-नाटकीय अंदाज में प्रस्तुत करने के कारण उल्लेखनीय है।

समकालीन हिंदी नाटककारों के प्रयोगधर्मी नाटकों के बीच अंतर का मूल कारण उनकी व्यक्तिगत जिंदगी के साथ-साथ उनके दर्शकों की इच्छाओं-आकांक्षाओं, रुचियों-अरुचियों और विश्वासों-विचारों की भिन्नता में, जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति के अंदाज में निहित है। नाटक एक सामूहिक लोकतांत्रिक विधा है, इसलिए अन्य साहित्य और कला-विधाओं की तुलना में नाटककार के लिए अपने दर्शक को अच्छी तरह जानना-समझना जरूरी होता है। इस दृष्टि से नाटककार वैद कोई नया जीवन-दर्शन या कोई नयी नाट्य-युक्ति का परिचय नहीं देते और न दर्शकों की मानसिकता को बहुत निकट से स्पर्श करने में रुचि लेते प्रतीत होते हैं। इतना अवश्य है कि नाटककार ने बड़े सलीके से जीवनांत के उजाले

को संवादों के माध्यम से व्यंजित किया है। नाटक में शुरू से अंत तक सिर्फ दो पात्र—मियां और बीवी एक-दूसरे से बातचीत करते हैं, बातों से बातें निकलती जाती हैं और जीवन के कतिपय संदर्भ संवादों के माध्यम से ही उभर कर दर्शकों तक संप्रेषित होते जाते हैं, समीक्ष्य नाटक में जिस तरह के ठहराव और ठंडेपन का अहसास होता है, वह उपरोक्त कथन से भिन्न नहीं, जबकि नाटककार को जनजीवन से अपनी वस्तु का चयन करना होता है, क्योंकि वह जब तक जनमानस की गहराई तक उतर कर जन-अभिरुचि को अनुभव नहीं करेगा तथा लोक की संवेदना से नहीं जुड़ेगा, तब तक उनकी व्यक्तिगत अथवा रचनाकार की पहचान संभव नहीं है।

एक नाटक की रचना करते समय नाटककार जिन विभिन्न विधायक तत्वों का संयोजन तथा नियमन करता है, उसके उपयोग एवं अनुपात के पीछे वस्तुतः यह प्रयास रहता है कि वह रंग रचना मंच पर दृश्यत्व प्राप्त करे और केवल पाठ्य बनकर ही न रह जाए। समीक्ष्य नाटक में ऐसा नहीं हुआ है। रंगधर्मी नाटककार अपनी नाट्यानुभूति को दृश्य घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, क्योंकि नाटक का कथ्य-सत्य यदि दृश्य घटनाओं तथा रंग-निर्देशों से अभिव्यक्त नहीं होगा तो रचना-विधान स्वतः संवादाश्रित हो जाएगा जैसा कि दुर्योगवश इस नाटक में हुआ है। काफी मशक्कत के बाद बुद्धिजीवी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'अंत का उजाला' में जीवन की वृद्धावस्था में ठहरे पति-पत्नी की मनोदशा को एक अनौपचारिक भाषायी तेवर में व्यक्त किया गया है। जन-सामान्य की समझ भी इस स्तर तक पहुंच सकेगी, इसमें संदेह है।

पूरे नाटक में तीन-चार रंग-निर्देश ही मुख्य हैं—अंधेरा फिर कुछ क्षणों बाद उजाला, दोनों की शब्दहीन हँसी और खामोशी। इसके अलावा, मात्र दो पात्रों को लेकर चलने वाले इस नाटक में बीवी का एक लम्बा एकालाप भी है, जो ठहरी हुई मंचीय गतिविधि में एकरसता का कारण बन गया है। पात्रों का न कोई क्रियाकलाप, न वस्तु में गतिशीलता और न कोई रंगमंचीय युक्ति—केवल मंच पर दो आरामकुर्सियों पर अधलेटे पड़े दो वयोवृद्ध दंपती, सन्नाटा, और किसी के आने की प्रतीक्षा, जो अंत तक नहीं आता। यह नाटक बेशक कुछ नए रचनात्मक प्रयोगों के साथ लिखा गया।

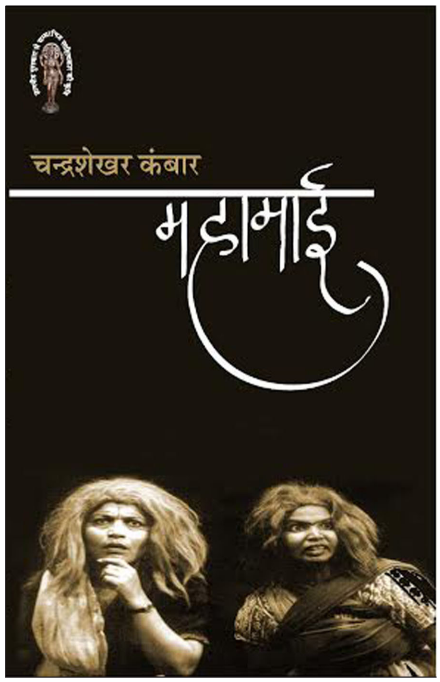

महामाई, ले. चन्द्रशेखर कंबार,
प्र. भारतीय ज्ञानपीठ
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 88, ₹ 120.00

महामाई

अपनी रचनाओं में प्राचीन मिथकों-संदर्भों को नई और वर्तमान की रोशनी में पुनर्सृजित करने वाले कन्नड़ के प्रसिद्ध रचनाकार और आलोचक चन्द्रशेखर कम्बार के अनेक रंग-नाटक हिंदी में अनूदित हुए हैं। पौराणिक मिथकों को लकर रचनाओं के सृजन की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है, जिसकी परंपरा में प्रयोगधर्मिता के नए आदर्श के साथ मर्मस्पर्शी नाटक 'महामाई' किसी लोककथा पर आधारित गहन संवेदना जगाने वाला है। इस नाटक में शेटिवी का चित्रण मृत्यु की देवी के रूप में हुआ है जबकि लोककथा में वह भाग्य की देवी है। संजीव उसका दत्तक पुत्र है, जिसे वैद्यक का आशीर्वाद प्राप्त है कि वह जिस रोगी का इलाज करेगा, वह ठीक हो जाएगा, लेकिन वह सिर्फ उन्हें ही बचा पाता है, जिन्हें महामाई चाहती है। संजीव अपनी मां को बहुत चाहता है, लेकिन उसे आत्मग्लानि होती है कि इस दैवीय शक्ति के बावजूद उसके पास स्वतंत्र होकर निर्णय लेने की आजादी नहीं है। संयोगवश बीमार राजकुमारी से उसकी भेंट होती है और माई की अनुमति के बिना उसका इलाज करने का निर्णय लेता है। बूढ़ी औरत के वेश में आकर मां उसे रोकती है। फलस्वरूप उनके बीच वाक्युद्ध और द्वंद्व छिड़ जाने से तनाव उत्पन्न हो जाता है। माई अपने शक्ति प्रदर्शन हेतु उसके प्रिय मृगछौने नेत्रवती और नाटक के अंदर नाटक में शिव का अभिनय कर रही मदन की पत्नी मंजरी को मार देती है। प्रेम और गरिमा की रक्षा हेतु राजकुमारी के गले में बंधी औषधीय लता को खोलने से संजीव मना कर देता है। संजीव की जीत और माई की हार के साथ हुआ वस्तु का पटाक्षेप भी नाटकीय युक्ति ही है। नाटक में चित्रित सहज घटनाओं और प्रसंगों से परे हटकर यदि आध्यात्मिक संदर्भ में इस पर विचार किया जाए तो मानवीय मूल्यों, करुणा, प्रेम, स्वतंत्रता, सत्य और सृजनात्मकता भी वस्तु में संगुम्फित दिखाई देते हैं जिन्हें मानव और मानवेतर के दोहरे नजरिये से देखा गया है।

अपने इस नाटक के माध्यम से कम्बार ने थोड़े भिन्न संदर्भों तथा प्रसंगों के साथ प्रेम की सनातन कथा और उसकी दुर्निवार नियति का चित्रण किया है। वैद्य

संजीव और उसके उपचार से स्वस्थ होनेवाली राजकुमारी की ऐसी ही एक प्रेमकथा समीक्ष्य नाटक में भी कही गई है, जिसके समर्थन के लिए वस्तु में प्रसंग भी निर्मित हुआ है। नाटक की मूल संवेदना मृत्यु की देवी महामाई और उसके दत्तक पुत्र वैद्य संजीव के बीच जीवन और मरण के प्रश्न में उलझकर अंतर्द्वंद्वग्रस्त होने से संबद्ध है, फिर भी अंतःसलिला के रूप में प्रवाहित प्रेम-प्रसंग नाटक में एक नया वातावरण सृजित कर घटनाओं को नाटकीय मोड़ देता है। यह वही विचित्र स्थिति है कि माई जहां लोगों के प्राण हरती है, वहीं उसका पुत्र अपने उपचार से लोगों को जीवन दान देता है। जीवन और मृत्यु के रूप में दोनों का एक जगह मिलना उनकी नियति है, लेकिन विचारों की टकराहट ही उनके द्वंद्व एवं तनाव का कारण है। संजीव के लिए मानव कल्याण और जनसेवा ही जीवन का परम धर्म है और अपनी करुणा से ही नाटक में अंततः उसकी जीत होती है। इसलिए यह कहना नितांत गलत होगा कि संजीव की यह जीत उसकी वैद्यक दक्षता के कारण हुई है, बल्कि सच तो यह है कि उसने सहज मानवीय प्रेम और करुणा के वशीभूत होकर अपनी संवेदना के कारण ही माई की विराट सत्ता को चुनौती देने की हिम्मत जुटाई है, यद्यपि माई का क्रोध और उनका आशीर्वाद ही उसका भाग्य है।

आधुनिक मानव अपनी आजादी खोकर विश्व-शक्तियों के इशारों पर भटकने के लिए ठीक उसी प्रकार विवश है, जिस प्रकार नाटक का नायक अपने समस्त गुणों और कोमल स्वभाव के बावजूद उस संसार में जी रहा है, जहां मानवीय आस्था उसके जीवन में नहीं अपितु मृत्यु में है। संजीव को मौत की देवी शेटिवी न केवल पालती-पोसती है, बल्कि उसे जीवन की उस शक्ति से समन्वित कर देती है जिसके उपयोग से वह जन-कल्याण कर विराटत्व को प्राप्त कर सकता है, लेकिन सच यह है कि वह चाहकर भी कभी उस विराटत्व को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि महामाई ने उस शक्ति को अपनी इच्छानुसार इस्तेमाल करने की आजादी उसे नहीं दी है। वह अपनी मां के इशारे पर चलने के लिए बाध्य है। संजीव को लगता है कि जीवन को सही ढंग से जीने के लिए दूसरों के वर्चस्व से स्वतंत्र होना नितांत अनिवार्य है। यहीं उसे जीवन के अधूरेपन और प्रेमानुभूति का अहसास होता है। इसी स्वतंत्रता के लिए वह अपनी मां से बहस करता है, अपनी आंतरिक भावनाओं का उद्‌गार व्यक्त करता है और राजकुमारी से विवाह कर भाग जाता है। महामाई क्रुद्ध होकर उनकी खोज के लिए डायनों को भेजती है। मदन तिलक द्वारा बार-बार नाम और भूमिका या वेश बदलकर मौत को चकमा देने की कहानी सुन चुका संजीव भी अपना और राजकुमारी का नाम बदल कर मां के प्रकोप से बचने का नाटक करता है, किंतु एक निष्ठुर निर्मम नियति उन्हें घसीटती हुई अंततः वहीं ला पटकती है, जिससे बचने के लिए वे भागते हैं। मौत से भागते हुए भी डायन के द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। जीवन की वास्तविकता को जानने के बाद संजीव अपनी मां का आह्वान करता है। एक विकराल रूप वाला विशाल बाज पक्षी सिंहासन पर प्रकट होता है और जिंदगी तथा मौत के रहस्यों की सच्चाई का बखान करता है। संजीव समझ जाता है, कि उसके हाथ-पैर नियति से बंधे हुए हैं और मां ही उसे अमरत्व प्रदान कर सकती है। शेटिवी अपने पुत्र को दीर्घजीवी होने का वरदान और अपनी इच्छानुसार उसके प्रयोग करने का आशीर्वाद देती है। संजीव चतुराई से अपनी जिंदगी के दीपक का तेल राजकुमारी के बुझते दीपक में डाल देता है और दीर्घायु पाकर राजकुमारी उठ बैठती है। यहीं अपने द्वारा दिए गए आशीर्वाद से माई की हार होती है। संजीव की इस धृष्टता से आहत, दर्द और क्रोध से भरी महामाई की भयंकर चीख से पूरा मृत्युलोक कांप उठता है। उसी समय संजीव अपने वैद्यक गुण के आशीर्वाद से वंचित हो जाता है और नाटक एक तनाव के साथ समाप्त हो जाता है।

वस्तु की तरह नाटक-शिल्प में भी प्रयोगधर्मिता के दर्शन होते हैं, यद्यपि लोककथा के बावजूद लोकमंचीय तत्वों का संयोजन नहीं है। नाटक में अंक नहीं हैं और नान्दी पाठ के अलावा हर दृश्य परिवर्तन का एक शीर्षक दिया गया है, जैसे पहला दृश्य माता का आगमन है तो दूसरा दृश्य सेडूमारी : प्रतिशोध की देवी है और क्रमशः माई की पहाड़ी, बिन मां का बेटा, मोर ने फैलाए अपने पंख, पाखंडी, भयभीत निर्भय हुए, दुर्भाग्य, उनको घसीट कर लाओ और अंतिम दृश्य अशान्त आक्रान्त आकाश के नीचे हैं। अंक-दृश्य विभाजन की इस नई परम्परा में शुरू में हर दृश्य की मूल चेतना पर आधारित शीर्षक दिए गए हैं। यद्यपि यह लेखन से जुड़ी रंगयुक्ति है, प्रदर्शन से नहीं। गिरिमल्लिगे और संजीव के दीर्घ संवादों में संक्षेपण की जरूरत थी। सांकेतिक अथवा परदे वाली मंच-व्यवस्था पर नाटक आसानी से अभिमंचित हो सकता है जिसमें निर्देशक यथास्थान ध्वनि एवं प्रकाश के उपयोग द्वारा वातावरण का समग्र प्रभाव प्रक्षेपित कर सकता है। रंगमंचीय संभावनाओं से परिपूर्ण इस नाटक का कथ्य मंचीय-साक्ष्य से घटित होन वाले क्रिया-व्यापारों, संवाद-योजना, मंचीय क्रियाशीलन और अभिनय मुद्राओं के सहारे दृश्यत्व ग्रहण करता है।

गढ़बनैली, पूर्णियां-854325 (बिहार)

विविध रूपों से बनता समाज

❑ *जसविन्दर कौर बिन्द्रा*

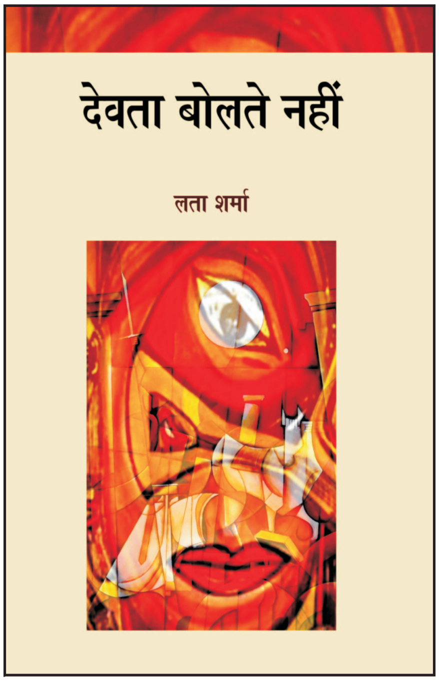

देवता बोलते नहीं, ले. लता शर्मा, प्र. कल्याणी शिक्षा परिषद् दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं. 2012, पृ.सं. 160, ₹ 250.00

देवता बोलते नहीं

लता शर्मा के नवीन कहानी-संग्रह 'देवता बोलते नहीं' में कुल पंद्रह कहानियां हैं। एक-दूसरे से भिन्न विषयों तथा चरित्रों वाली हैं।

'पेंच-पाना' कहानी आधुनिक युग में उपजी वृद्धों की समस्या की ओर इंगित करती है, जिसमें लोग अपने वृद्ध मां-बाप को बोझ समझ उनसे नाता सिर्फ रोटी-पानी देने तक ही सीमित रखना चाहते हैं। ऐसी हालत में बुजुर्ग मैकेनिक बाप अपने अनुभव तथा समझदारी से अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार कर अपना लोहा मनवा लेता है।

'चयन का अधिकार' उसी पारंपरिक स्थिति को दर्शाती है, जिसमें पति का अहं इस बात से आहत होता है कि उसकी पत्नी उससे अधिक लायक तथा समझदार है। पत्नी की तनख्वाह पर भी वह अपना ही हक समझता है। ऐसी परिस्थिति में पत्नी के सामने दो रास्ते हो सकते हैं—या तो वह खुदकुशी कर ले या फिर पति के घर से भाग जाए और अपने किसी प्रेमी के साथ रहने लगे। इन दोनों संभावित नतीजों में से पाठक किसी को भी स्वीकार कर सकता है। पाठक को इस चयन का अधिकार है।

इस कहानी के साथ ही लेखिका 'डेढ टांग की लाश' कहानी में भी पाठकों को अपने साथ जोड़कर प्रस्तुत करती है। यह कहानी कॉलोनी के एक किशोर को केंद्र में रखकर लिखी गई है, जो अपनी उम्र के लिहाज से शरारती और खिलंदड़े स्वभाव का है। माली का बेटा होने के कारण लोगों के घरों में छोटे-मोटे काम करना और छोटी-मोटी चोरी करने में वह माहिर है, मगर ऐसा अचानक उसके साथ क्या होता है कि अपनी टूटी टांग के साथ एक दिन मृत पाया जाता है। यहां भी लेखिका पाठकों को स्वयं फैसला करने को कहती है कि उसकी मौत का कारण क्या हो सकता है, उसकी चोरी करने की आदत या गरीबी?

संग्रह के शीर्षक वाली कहानी 'देवता बोलते नहीं' में लेखिका गरीब और गैरतमंद कलाकार को चित्रित करती है, जो अपनी गरीबी और चुप्पी के कारण पहले-पहल तो अपनी बीवी की चरित्रहीनता को बर्दाश्त करता रहता है, मगर असहाय हो जाने पर पत्नी तथा उसके अमीर प्रेमी को मार डालता है।

कहानी 'जरा सी बरसात' में कहानी जैसे हल्के-फुल्के ढंग से आरंभ होती है, जब बस स्टैंड पर खड़े काफी लोगों के साथ ही वहां खड़ा एक बच्चा गेंद खेलकर अपना समय बिता रहा है। आस-पास के दृश्यों को सजीवता से बयान करती हुई कहानी जब अंत पर पहुंचती है तो मालूम पड़ता है कि उस बच्चे के मासूम खेल ने कैसे एक नौटंकी वाली औरत को मां की ममता से भर दिया है।

'अति अथाह अतीत औधरों' कहानी पुरुष के दंभ और रसिकता को दर्शाती है, जहां पुरुष के लिए लंपटता करना उसका विशेषाधिकार लगता है, उसे यह सोचने की फुरसत ही नहीं कि घर में उसकी एक बीवी भी है। उस तक सभी सूचनाएं पहुंचती

रहती हैं। आखिर वह क्या सोचती होगी। यह सब सोचने की फुरसत उस अति व्यस्त और अत्यंत स्मार्ट पति के पास है ही नहीं।

'निष्कासन' कहानी दलित होने का दंश भोगते युवक की कहानी है, जिसे जाति-बिरादरी की ओर से शिक्षित होने का उलाहना मिलता है और स्कूल की नौकरी में जाति छुपाने का अभियोग। अंत में सभी ओर से निष्कासित हो, सब कुछ छोड़ कर चल देता है। वहीं 'बाएं हाथ का खेल' कहानी एक नयी शुरुआत करने की बात कहती है। जब बेरोजगार हो और कमाऊ बहन हो तो राखी बंधवाने का हक बहन का बनता हैं, भाई का नहीं।

सभी कहानियां मध्यम वर्ग की समस्याओं को बयान करती हैं। वृद्ध मां-बाप के फालतू सामान होने का दर्द भी शामिल है, मगर अधिकतर कहानियां भावनाओं की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं कि पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। लोगों का भीतरी सच जब सामने आता है तो कई भ्रम भी टूटते हैं।

संगतिन-यात्रा

अवधी बोली में पक्की सहेली को 'संगतिन' कहते हैं। संगतिन अपनी साथी के सुख-दुख में जीती तथा काम करती हैं। यह सीतापुर जिले की संगतिनों की कहानी है। यह एक नया प्रयास है, जिसमें एक एन.जी.ओ., जिसे उन्होंने छद्म नाम दिया 'नारी समता योजना' (एन.एस.वाई.) के तहत काम करने वाली नारी कार्यकर्ताओं की जिंदगी को उन्हीं के माध्यम से लिखित रूप दिया।

स्त्री विमर्श का मुद्दा काफी समय से अत्यन्त जोर-शोर से उठता रहा है। हरेक स्त्री, संस्थाओं तथा महिला संगठनों आदि की विचारधारा में नारी-विमर्श की परिभाषा अलग-अलग है। सिर्फ इसमें 'नारी' होना और उसके इर्द-गिर्द सोचने की समानता नजर आती है। खैर, संगतिन-यात्रा की बात करते हैं।

सीतापुर जिले के सौ से अधिक गांवों

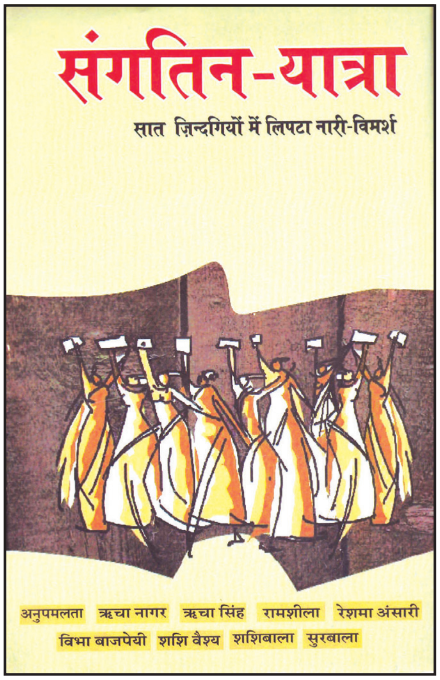

संगतिन-यात्रा, ले. संगतिन लेखक समूह
प्र. राजकमल प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 144, ₹ 250.00

के किसान तथा मजदूर संगतिन समूह से जुड़े हैं, जिसके अन्तर्गत यह जीवट कदम उठाया कि इसकी दलित तथा शोषित महिलाएं अपने घर की चारदीवारी से बाहर निकल, घर-ससुराल वालों का विरोध, बिरादरी के उलाहने तथा छींटाकशी को नजरअंदाज कर अपने अस्तित्व की पहचान करने के लिए एन.एस.वाई में काम करने के लिए निकल आई हैं। इनकी हिम्मत की दाद देते हुए संगतिन समूह के संगठनकर्ताओं ने इन स्त्रियों को अपनी जिंदगी को पन्नों पर उतारने के लिए प्रेरित किया।

इस पुस्तक में सात स्त्रियां—राधा, पल्लवी, मधुलिका, गरिमा, चांदनी, शिखा, संध्या और त्रछमा की जीवन-यात्राएं हैं। इन स्त्रियों को उन्होंने बचपन से आरंभ कर, विवाह, मातृत्व से गुजरते हुए घर की चारदीवारी के अन्दर खटती, पीटती, टूटती हुई जिंदगी को जीने की चाह में, इस घर-बिरादरी तथा समाज से बाहर निकल नयी चुनौतियों का सामना करने तक की अपनी जीवन-कथा लिखने के लिए प्रेरित किया है। बाद में सभी की डायरियों के अनुभवों को जांच-परख तथा विश्लेषित कर जो विश्लेषण सामने आया, उससे उनके जीवन की परतें नहीं उघड़ीं, उघड़ीं समाज-बिरादरी की परतें, जिसमें जाति, वर्ग तथा लिंग के भेदभाव के पहाड़ खड़े नजर आए। अपमान, मारना-पीटना, गाली-गलौज की नदियां और शोषण के दबाव के साथ धर्म-वर्ग समाज की खाइयां नजर आईं।

स्त्रियां जब लिखने लगी तो कम पढ़ाई-लिखाई के बावजूद अपने दुख, अनुभव अपमान बांटने के लिए शब्दों की कमी नहीं आई, शायद स्त्री के जीवन को बयान करने के लिए बहुत अधिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती भी नहीं।

यह प्रयास बहुत सराहनीय है, जिसमें स्त्रियों को मौका दिया गया कि वे अपने-अपने ढंग से, अपने अनुभव लिखें। अलग-अलग परिवेश, धर्म, गांव, वर्ग की स्त्रियां भी जीवन-कथा घटनाओं के अलग होने के बावजूद एक ही जंजीर की अलग-अलग कड़ियां नजर आती हैं, जो आपस में कितनी जुड़ी हुई भी लगती हैं। स्त्रियों ने खुलकर लिखा। अपनी जिंदगी में दूसरों को झांकने का अवसर दिया। फिर ब्रह्मा सिंह तथा त्रछमा नागर ने इनका विश्लेषण कर कुछ नुक्ते निकाले, जो अहम हैं, जो सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक परिवेश को चिह्नित करने में सहायक होते हैं।

संगतिनों की यह यात्रा दुखद होने के बाद सुखद बन जाती है, जिससे रोने के बाद मन हल्का हो जाता है न।

अपनी धरती अपने लोग

हिंदी की सुपरिचित कथाकार मधु कांकरिया अपनी कहानियों तथा उपन्यासों के द्वारा हिंदी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनकी नवीनतम रचना 'अपनी धरती अपने लोग' गद्य-लेखन का एक सुंदर निदर्शन है।

छोटे-छोटे, विभिन्न विषयों पर लिखे

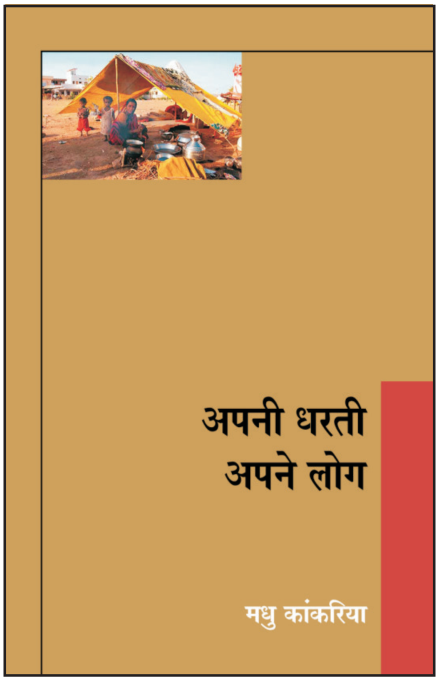

अपनी धरती अपने लोग, ले. मधु कांकरिया
प्र. सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 176, ₹ 300.00

लेखों में लेखिका संतुलित दृष्टि रख अपने आस-पास तथा देश के विभिन्न भागों में घटित होते और अपनाए-विचारे जाते अनेक विचारों, घटनाओं का विवेचन प्रस्तुत करती है। प्रकृति संग आत्मीयता रखने के कारण जब उसे 'युकलिप्टस' तथा 'पटुस' पेड़-पौधों की वास्तविक जानकारी हुई तो वह हैरान रह गई कि इन विदेशी पेड़-पौधों के कारण भारतीय वन-संपदा को कितना नुकसान हो रहा है। इसी प्रकार 'बोंसाई' विधि अनुसार जबर्दस्ती प्राकृतिक पेड़-पौधों का विकास सीमित कर, उन्हें सिर्फ अपने ड्राइंगरूम की शोभा बढ़ाने के लिए इस्तेमाल करना बेहद तकलीफदेह भी लगा।

लेखिका अपने युवा पुत्र के हवाले से इस आधुनिक युवा पीढ़ी की विचारधारा, जीवन-पद्धति और स्मार्ट और फास्ट मनोवृत्ति पर कई प्रश्न-चिह्न भी लगाती है। मां होने और भारतीय स्त्री होने के नाते लेखिका कई बार ऐसे-ऐसे तर्क और दर्शन सामने रखती है, जिससे युवा वर्ग की प्रतिनिधिता करता उसका पुत्र, देश के प्रमुख प्रबन्धन संस्थान की 'क्रीमी लेयर' होने के बावजूद अपने तकनीकी ज्ञान और पश्चिमी विचारों से अत्यंत प्रभावित होने पर भी भारतीय चिन्तन-मनन प्रणाली के सामने चित हो जाता है। भारतीय दर्शन से प्रेरित अनेक भावों-रहस्यों को अपने लेखों में समाहित करती लेखिका पूर्व और पश्चिम की जीवन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी करने लगती है तो पता लगता है जहां एक जर्मन बहू अत्यन्त संयम से अपनी वृद्ध सास को जर्मन भाषा सिखा रही है, वहीं एक छोटा बच्चा अपने दादा द्वारा किसी बात पर डांटने पर 911 डायल कर पुलिस बुला दादा को हवालात भी भेज देता है।

इस प्रकार लेखिका ने समय-समय पर अपने विभिन्न प्रवासों तथा गाहे-बगाहे मिले लोगों, परिचितों से मिले अनुभवों को इन लेखों द्वारा बांटने का प्रयास किया है। इनमें कभी किसी कैदी से मुलाकात हो जाती है तो कभी किसी स्वप्न देखते बचपन से। कोई रुला जाता है, कोई मुस्कान दे जाता है। कोई थोड़े में नवीन जानकारी दे जाता है, कोई खतरे से आगाह कर देता है। इन मिले-जुले अनुभवों से, विविध लोगों से यह पुस्तक अत्यन्त पठनीय बन गई है। लेखिका के लेखन में सरसता तथा सरलता दोनों ही शामिल हैं।

श्रेष्ठ सिख कथाएं

साहित्य में जीवन-साहित्य तथा महापुरुषों के प्रेरक प्रसंग इत्यादि भी पाठकों द्वारा बहुत चाव से पढ़े जाते हैं। विविध विधाओं में लिखने वाली शरद सिंह अपनी नवीनतम रचना में सिख-गुरुओं के जीवन से संबंधित कथाएं लेकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुई है।

अपने प्रयास में शरद सिंह काफी हद तक सफल नजर आती हैं। उन्होंने प्रत्येक कथा के आरंभ में उपदेशों की सूक्त पंक्तियां दीं और अंत में किसी न किसी श्लोक या शब्द दे उसे समाप्त किया। गुरुवाणी के श्लोकों या शब्दों में कहीं-कहीं मात्राओं का अन्तर लगता है, मगर उसने गुरुवाणी इंटरनेट या अनुवादों से प्राप्त की होगी। जिस कारण यह कम खटकती है, क्योंकि सिख धर्म की मान्यता है कि गुरुवाणी का न सिर्फ शुद्ध उच्चारण किया जाए अपितु उसके लिखित स्वरूप तथा शब्दों में भी किसी अक्षर या मात्रा में फेर-बदल ना किया जाए।

शरद सिंह ने बहुत सरल ढंग से, संक्षेप में सिख गुरुओं के उच्च जीवन चरित्र, आदर्शों, उपदेशों तथा मूल्यों को इस ढंग से बयान किया है कि न जानने वाले पाठकों को भी सिख धर्म तथा उसके गुरुओं संबंधी उचित जानकारी मिल सके। आमतौर पर लोग इस बात को नहीं जानते कि हिंदू-धर्म की रक्षा के लिए सिखों के नवें गुरु श्री तेग बहादुर साहब ने शहादत दी थी, जहां अब गुरुद्वारा शीशगंज साहब है और गुरु गोबिन्द सिंह ने औरंगजेब को लानत भेजते हुए सख्त शब्दों में पत्र भेजा था, जिसे 'जफरनामा' कहा जाता है। लेखिका ने इन सभी कथाओं को पेश किया है।

35, मस्जिद रोड, जंगपुरा, भोगल,
नई दिल्ली-110014

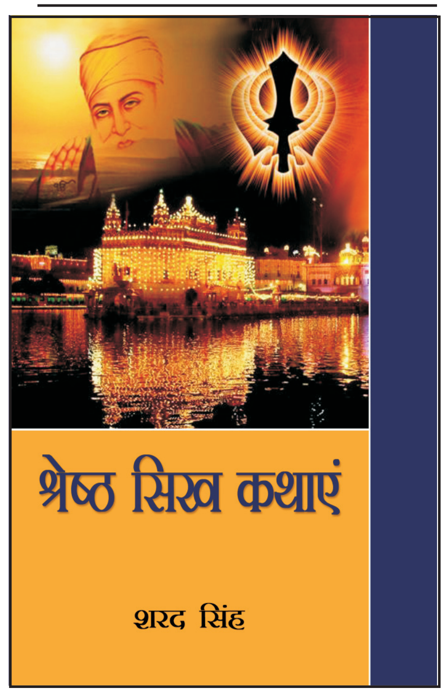

श्रेष्ठ सिख कथाएं, ले. शरद सिंह
प्र. सुनील साहित्य सदन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002,
प्र.सं. 2012, पृ.सं. 176, ₹ 250.00

सामयिक प्रकाशन : प्रत्येक महाविद्यालय, पुस्तकालय एवं शोधार्थियों के लिए आलोचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

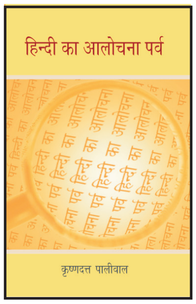

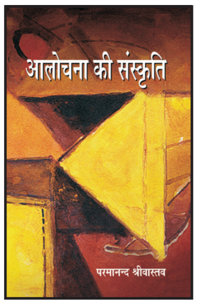

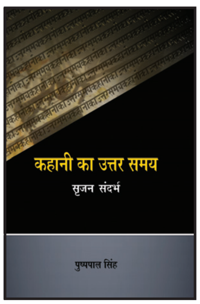

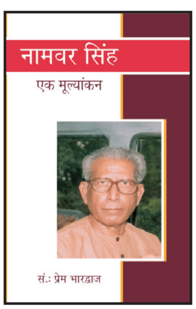

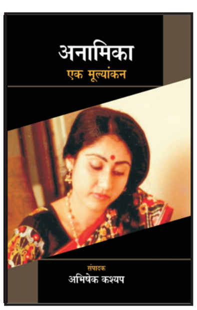

• हिन्दी का आलोचना पर्व	कृष्णदत्त पालीवाल	695
• सृजन का अंतर्पाठ उत्तर आधुनिक विमर्श (पुरस्कृत)	कृष्णदत्त पालीवाल	700
• आलोचना की संस्कृति	परमानन्द श्रीवास्तव	395
• अंधेरे समय में शब्द	परमानन्द श्रीवास्तव	250
• कहानी का उत्तर समय : सृजन संदर्भ	पुष्पपाल सिंह	795
• समकालीन कहानी : नया परिप्रेक्ष्य	पुष्पपाल सिंह	795
• भारतीय उपन्यास की दिशाएं	सत्यकाम	595
• भारतीय अस्मिता और हिन्दी	शंभुनाथ	500
• साहित्य सृजन : बदलती प्रक्रिया	शंभु गुप्त	460
• भारतीय समाज, राष्ट्रवाद और प्रेमचंद	जितेन्द्र श्रीवास्तव	360
• आलोचना का लोकतंत्र	कमला प्रसाद	495
• आधुनिकतावाद और साहित्य	दुर्गाप्रसाद गुप्त	300
• निराला का गद्य और भारतीय समाज	ममता तिवारी	600
• नामवर सिंह : एक मूल्यांकन	सं. प्रेम भारद्वाज	900
• अमरकांत : एक मूल्यांकन	सं. रवीन्द्र कालिया	500
• चित्रा मुद्गल : एक मूल्यांकन	के. वनजा	300
• नासिरा शर्मा : एक मूल्यांकन	सं. एम. फीरोज अहमद	695
• अनामिका : एक मूल्यांकन	सं. अभिषेक कश्यप	900
• मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य	सं. दया दीक्षित	495
• अज्ञेय की आलोचना दृष्टि	राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय	200
• शमशेर की आलोचना दृष्टि	गजेन्द्र पाठक	150
• आवां विमर्श	सं. करुणाशंकर उपाध्याय	460
• हिन्दी ग़ज़ल : उद्भव और विकास	रोहिताश्व अस्थाना	630
• स्वातंत्र्योतर हिन्दी काव्य-धारा की मूल्य चेतना	अपर्णा सारस्वत	395
• स्त्री अस्मिता और समकालीन कविता	प्रमीला के.पी.	200
• मुख्यधारा और दलित साहित्य	ओमप्रकाश वाल्मीकि	300
• प्रेमचंद की विरासत (तीसरा संस्करण)	राजेन्द्र यादव	300
• भेद खोलेगी बात ही	विजयमोहन सिंह	250
• दलित साहित्य के आधार तत्व	हरपाल सिंह 'अरुष'	300
• इस्पात में ढलती स्त्री	शशिकला राय	250
• रंगशाला में एक दोपहर	स्वयंप्रकाश	200
• शिवमंगल सिंह 'सुमन' : मनुष्य और स्रष्टा	प्रभाकर श्रोत्रिय	75

विस्तृत सूची पत्र एवं क्रय आदेश के लिए लिखें:

सामयिक प्रकाशन

फोन : (011) 23282733, टेलीफैक्स : (011) 23270715

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

E-mail: samayikprakashan@gmail.com • E-mail: samayikprakashan@rediffmail.com